❀ श्रीः ❀

श्रीमदमृतग्रन्थमालायाः द्वादशं पुष्पम्

श्रीपरमशिवस्तोत्रम्

तथा

वस्तु-स्थितिप्रकाशः

(हिन्दी-व्याख्या-सहितम)

ग्रन्थनिर्माता —

श्रीमद्भमृतवाग्भवाचार्यः

विद्वद्वरकलास्थानं श्रीपीठं पण्डितप्रियम् ।
अमृतं वाग्भवं भूयात् पुरुषार्थप्रसिद्धये ॥

प्रकाशक :

श्रीपीठं, सैद्ध-दर्शन-शोध-संस्थानं, जम्मू ।

❀ श्रीः ❀

श्रीपरमशिवस्तोत्रम्

(हिन्दी-व्याख्या-सहितम्)

ग्रन्थनिर्माता—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-आचार्य-

श्रीमद्‌अमृतवाग्भवजी महाराज

व्याख्याकार—

डा० बलजिन्नाथपण्डित, शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.

प्रकाशक :

श्रीपीठ, सैद्ध-दर्शन-शोध-संस्थान, जम्मू ।

प्रकाशक—श्रीपीठ, सैद्धदर्शन शोध संस्थान, जम्मू ।

प्रथम संस्करण – २०४१ विक्रमी (१९८४ ई०)
१००० प्रतियां

मूल्य – १३ रुपये ।

मुद्रक—एस० एन० मगोत्रा प्रिंटिंग प्रैस, जम्मू ।

SRI

SRI PARAMASIVASTOTRAM

With Hindi Commentary

AND

VASTU-STHITI-PRAKASA

Author :

ACARYA AMRTAVAGBHAVA

Commentator :

Dr. B. N. PANDIT

Sri Pitha-Sodha-Samsthana,

JAMMU.

सिद्ध-महा-मन्त्र-मयी प्रार्थना

(आ० श्रीमद् अमृतवाग्भव-निर्मिता)

प्रभो शम्भो दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयोर्
भवारण्यादस्माद् विषमविषयाशीविष-वृतात् ।
समुद्धृत्य श्रद्धा-विधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निजतनयमात्मीकुरु शिव ॥

अर्थ—हे सर्वशक्तिमान्, समस्त संसार का कल्याण करने वाले, कल्याणस्वरूप भगवान् शिव, यद्यपि मुझ में सच्ची श्रद्धा की न्यूनता है, फिर भी मैं अति दीन बन कर आदरपूर्वक हाथ जोड़े हुए आप के चरणों की शरण में आया हूं । (अत:) विषय रूपी भयङ्कर विषधर सर्पों से भरे हुए इस संसार रूपी महावन में से मेरा उद्धार करके दया-दृष्टि से देखते हुए अपने पुत्र रूपी मुझको (अवश्य ही) अपनाइए, अर्थात् मुझे अपने साथ अभेद भाव का साक्षात्कार करवाइए ।

इसी मन्त्र का उल्लेख सिद्ध-महा-रहस्य के सातवें आह्निक के ३२ से ३५ तक के श्लोकों में किया गया है ।

स्तोत्रकार



ग्रन्थकार महोदय :—
सर्वतन्त्र—स्वतन्त्र-महामहिम-श्रीमद्-
आचार्य अमृतवाग्भव जी महाराज
चित्र सं० १९९३ विक्रमी का

प्रास्ताविक

पूज्यपाद श्री आ० अमृतवाग्भव जी के द्वारा निर्मित ग्रन्थों में से जो ग्रन्थ हमें प्राप्त हुए हैं, पाण्डुलिपि के रूप में या मुद्रित रूप में, उनमें से सब से प्राचीन ग्रन्थ यह परमशिवस्तोत्र है । इस स्तोत्र काव्य को उन्होंने वि. सं. १९८३ में तब लिखा था जब वे अभी वाराणसी में अपने घर में ही रहते थे । इस ग्रन्थ में उन्होंने ग्रन्थकार के रूप में अपना नाम वही दिया है जिस नाम ते उन्हें वाराणसी में जाना जाता था । वह नाम है "वैद्यनाथ बरकले" । परिब्राजक बनने के अनन्तर वे अपने ग्रन्थों में अपना नाम "आ० अमृत-वाग्भव" ऐसा लिखते रहे । उस नाम का संकेत-मात्र इस स्तोत्र के तीसरे श्लोक में मिलता है । इसी तरह से 'वैद्यनाथ वरकले" इस नाम के संकेत भी त्रिगुणेश्वर स्तोत्र आदि में दिए गए हैं ।

वाराणसी में रहते रहते भी उन्होंने समस्या पूर्ति आदि के रूप में अनेकों लघु-रचनाओं का निर्माण किया था। परन्तु वे रचनाएं कहीं भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुईं। कविताओं का एक छोटा सा संग्रह मैं ने वाराणसी में श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते के पास एक बार देखा था। उसमें आचार्य महोदय की भी एक कविता "पिक सन्देश" या "पिक प्रयुक्ति" (मुझे पूरी तरह से स्मरण नहीं) मैं ने देखी थी। उसमें भी अपना नाम "वरकलवैद्यनाथ" ही दिया है।

इस परमशिव स्तोत्र के विषय में उन्होंने मुझे बहुत वर्ष पहले एक बार बताया तो था, परन्तु पाण्डु लिपि उन्हें भी नहीं मिल रही थी। पश्चात् उन्हें वह मिल गई और १९७३ ई० में जब वे हमारे पास शिमला आए थे तो तब उसे साथ लाए थे। वहीं मैं ने उसकी एक प्रतिलिपि उतार कर रखी थी। शिमला में मुद्रण-व्यवसाय बहुत ढीला और महंगा है। अतः वहां रहते रहते मेरे से पूज्यपाद जी के किसी भी ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं हो सका। इस काम को मैं तब आरम्भ कर सका जब १९८० ई० में मैं जम्मू आ गया। श्री आत्म विलास के प्रकाशन के अनन्तर मेरा संकल्प इस स्तोत्र को प्रकाशित करने का था। परन्तु इसकी टीका लिखी नहीं गई थी। अतः दूसरा प्रकाशन हम ने श्रीपीठ की ओर से जो किया वह "श्रीगुरुवरस्तव" का किया और तीसरा "श्रीसिद्ध-महा-रहस्य" का। तदनन्तर इसकी बारी आई तो सही और मैं इसकी टीका को लिखने भी लगा। परन्तु बीच में ही मुझे पूज्यपाद श्री जी के दिल्ली और जयपुर वाले भक्तों की प्रेरणा से और उनके के आग्रह से श्री "अमृतस्तोत्र संग्रहः"

की टीका का निर्माण करने और पूज्यपाद जी की संक्षिप्त जीवनी को लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्तोत्र सग्रह का प्रकाशन तो दिल्ली में सुन्दर ढंग से हो गया परन्तु जयपुर वाले हमारे द्वारा लिखित सामग्री का सदुपयोग नहीं कर पाए। इन कार्यों में कुछ समय ब्यस्त रहने के पश्चात परमशिवस्तोत्र की प्रारम्भ की हुई टीका का पूरा निर्माण करने का अवसर आया।

परमशिवस्तोत्र एक ओर से स्तोत्र काव्य हैं, परन्तु दूसरी ओर से एक गहन शास्त्र भी है। इसी कारण से इस पर विस्तृत टीका लिखने की आवश्यकता पड़ी जिसे अब पूरा कर दिया गया। यह शैव दर्शन का एक सुन्दर-ग्रन्थ भी है। तभी तो इसके अन्तिम श्लोकों में यह कहा गया है कि इसके रहस्य को सद्गुरु के उपदेश से जान कर यदि इसका अभ्यास किया जाए तो जीव शिव बन सकता है —

सम्प्राप्य गुरुवक्त्राब्जाच्चेतसाऽनन्यगामिना।
सम्पठन् स्तोत्रमेतत् स्यात् पशुः पशुपतिः किल॥

(प. शि. स्तो ४८)

इसमें सङ्केतित शास्त्र-सिद्धान्तों पर स्तोत्र के विस्तृत उपोद्घात में और श्लोकों की हिन्दी व्याख्या में काफी प्रकाश डाला गया है।

सन् १९८२ के ग्रीष्म में मैं ने इस स्तोत्र पर काफी विचार किया। फिर जुलाई के महीने में जब मैं दिल्ली गया था तो कई एक बातों पर पूज्यपाद श्री जी के साथ भी विचार विमर्श किया। कई एक दुर्बोध पदों का तात्पर्य भी उनसे पूछा। फिर यह निश्चित

हुआ कि इस पर हिन्दी व्याख्या लिख कर इसे श्रीपीठ की ओर से प्रकाशित किया जाए।

इस स्तोत्र को पूज्य पाद जी ने नव-यौवन की अवस्था में लिखा था। वैयाकरण और अभ्यासी उपासक होने के नाते उन्होंने छन्दः शास्त्र और अलङ्कार शास्त्र आदि के नियमों की ओर विशेषतया अधिक ध्यान नहीं दिया था। परन्तु जब मैं ने इस पर विचार विमर्श किया तो मुझे ऐसी सूझी कि इसे प्रकाशित करने से पहले कहीं कहीं इसकी रचना को सुधारा जाए जिससे थोड़े थोड़े छन्दोदोषों, अलङ्कार दोषों आदि का निवारण हो जाए। पूज्यपाद जी मेरे इस प्रकार के सुझावों को प्रायः मान ही लिया करते थे। इस स्तोत्र के विषय में उन्होंने यह आदेश दिया कि ऐसे सुधारों को या तो नीचे टिप्पणी मे दिया जाना चाहिए या अन्त पर अनुक्रमणी के रूप में और स्तोत्र के मुख्य शरीर में शब्द सारे के सारे वैसे ही छपने चाहिए जैसे कि पाण्डुलिपि में विद्यमान हैं।

मैं इस बात को जानता ही था कि स्तोत्र इसी रूप में भगवान् विश्वनाथ को अर्पित किया गया है और इसे इसी रूप में प्रकाशित किया जाना चाहिए। परन्तु फिर भी इस विषय में पूज्यपाद जी से परामर्श करने में कोई हानि मुझे दीखी नहीं। मैं ने भगवान् विश्वनाथ जी के प्रति अर्पण किए जाने की बात भी साथ कह दी और उनसे आदेश पूछा। उनके ऊपरोक्त आदेश से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच गया कि भगवान् विश्वनाथ ने स्तोत्र को इसी रूप में स्वीकार किया है। अतः इसका सम्पादन इसी रूप में किया। कोई पण्डित-

अमन्य पाठक दोष न निकाले, इस विचार से श्री पूज्यपाद जी के आदेश के अनुसार सुधार किए हुए पाठभेदों को ग्रन्थ के अन्त पर अनुक्रमणी के रूप में दे रखा । यदि किसी पण्डित को छन्दोदोष आदि कडवे लगें तो वह सुधारे हुए पाठ को लेकर के तदनुसार ही स्तोत्र का पाठ कर सकता है । बस इतना ही प्रयोजन इन सुधारों का है । सुधार अधिकतर लघु-गुरु के विषय में हैं और "यत्तदोर्नित्य:-सम्बन्ध:" इस नियम की दृष्टि से किए गए हैं । वे पढ़ने वाले के लिए उपयोगी हैं । परन्तु उपासक के लिए मूल पाठ ही उपयुक्त रहेगा; क्योंकि उसी रूप में उसे काशीपति को अर्पित किया गया है और उसी रूप में उन्होंने उसे स्वीकार किया है ।

श्री स्वाध्याय नामक मासिक पत्रिका में एक बार कई एक महीनों तक पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय के ऐसे लेख लगातार छपते रहे जिन में वे अपनी दार्शनिक दृष्टि का दिग्दर्शन पाठकों को कराते रहे । वे लेख "वस्तु स्थिति क्या है" इस शीर्षक से क्रमशः छपते रहे । प्रकृत पर शिवस्तोत्र में भी उनकी दार्शनिक दृष्टि की प्रकाशमयी किरणें चमक रही हैं । उनकी उस पराद्वैतमयी दार्शनिक दृष्टि के विशेष स्पष्टीकरण के लिए उनके ऊपरोक्त लेखों को भी इस स्तोत्र के अन्त पर पुन: प्रकाशित किया जा रहा है । इन छोटे-छोटे सात लेखों के इस संग्रह को "वस्तुस्थिति-प्रकाश" इस शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकृत स्तोत्र के साथ जोड़ कर एक साथ प्रकाशित किया जा रहा है । एक एक लेख का सामान्य शीर्षक एक एक "उन्मेष" रखा गया है और विशेष शीर्षक वही रखा जा रहा है जो श्रीस्वाध्याय पत्रिका में छपा है । लेखों में आने

वाले जिन संस्कृत श्लोकों का हिन्दी अनुवाद श्रीस्वाध्याय में नहीं दिया गया था उनके अनुवाद और तात्पर्य को पृष्ठों के नीचे दी गई टिप्पणी में रखा जा रहा है। आशा है इस लघु पुस्तिका के अध्ययन से पाठकों को पूज्यपाद जी के दार्शनिक विचारों को समझ लेने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

डा. बलजिन्नाथ पण्डित,
मन्त्री
श्रीपीठसैद्धदर्शन शोध संस्थान

—:o:—

सिद्धमहामन्त्रमयी

परशिव-प्रार्थना

(आचार्य महोदय निर्मित)

प्रभो शम्भो दीनं विहितशरणं त्वच्चरणयोर्
भवारण्यादस्माद् विषम-विषयाशीविषवृतात् ।
समुद्धृत्य श्रद्धाविधुरमपि बद्धादरकरं
दयादृष्ट्या पश्यन्निज-तनयमात्मीकुरु शिव ।,

हे जगत के एक मात्र प्रशासक तथा कल्याण करने वाले भगवान् शिव, मैं बहुत दीन बना हुआ हूँ और यद्यपि श्रद्धा की मुझ में बहुत त्रुटि है, फिर भी आदर पूर्वक हाथों को जोड़ कर आप के चरणों की शरण में आया हूँ; तो आप कृपा दृष्टि से मुझे देखते हुए, विषय रूपी अति भयङ्कर विषधर सर्पों से भरे हुए इस संसार रूपी गहन वन में से मेरा उद्धार करके इस अपने पुत्र रूपी मुझ को अपनाइए; अर्थात् मुझे अपने साथ अभेदभाव की स्थिति पर ले आइए ।

—:o:—

उपोद्घात

पूज्यपाद आचार्य महोदय को श्रीविद्या की मन्त्रदीक्षा बाल्यकाल में उपनयन संस्कार के ही समय अपने पिता जी से प्राप्त हुई थी । उन्हीं से उन्हें शैवदर्शन के सिद्धान्तो का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त हो चुका था । उच्च शिक्षा के सम्बन्ध से जब वे कुईन्ज कालेज में व्याकरण-शास्त्री की कक्षाओं में अध्ययन करते थे तो कालेज के तात्कालिक प्रिंसिपल, महा महोपाध्याय, श्री गोपीनाथ कविराज जी की प्रेरणा से उन्होंने शैवदर्शन के कुछ ग्रन्थों का अध्ययन किया । थोड़े ही समय में उन्होंने आ० अभिनवगुप्त के परमार्थसार को, भोज के तत्त्व प्रकाश को और महेश्वरानन्द के महार्थमञ्जरी परिमल को पढ़ लिया । उन्हें सोलह वर्ष की आयु में महामुनि भगवान् दुर्वासा ने अपार अनुग्रह करते हुए साक्षात् दर्शन देकर उत्कृष्टतर शाम्भवयोग की पूरी दीक्षा दे दी थी । उस योग के अभ्यास से उन्हें सिद्धों की दर्शन-विद्या के मुख्य सिद्धान्तों का ज्ञान अपनी साक्षात् अनुभूति से ही हो चुका था । अतः ऊपरोक्त ग्रन्थों को समझ लेने में उन्हें कोई भी कठिनाई नहीं आई ।

सिद्धों की दर्शन विद्या के अनुसार परिपूर्ण परमेश्वर ही वस्तुत: एक मात्र सत्य तत्त्व है। उस तत्त्व का स्वरूप अखण्ड, असीम, परिपूर्ण और सर्वथा शुद्ध अद्वैतरूप चैतन्य है। वह अपने चित् प्रकाश से सदा परिपूर्ण "अहं" के रूप में चमकता ही रहता है और उसे अपने उस स्वरूप का विमर्श भी सदैव होता ही रहता है। विमर्श तो चित् प्रकाश के भीतर रहने वाली एक गतिशीलता जैसी विशेषता है। यही उस परतत्त्व की आनन्दमयता है। लोक-व्यवहार में भी प्राणी को तभी आनन्द आता है जब वह अपनी किसी विभूति का विमर्शन करता है कि 'यह मैं हूं" या "ऐसा मैं हूं" या "यह मेरा है।" इस तरह से परमेश्वर को जो अपनी परमेश्वरता का सदा विमर्शन होता रहता है वह उसकी आनन्दमयता है। बच्चा जब कभी आनन्द की लहरों से परिस्पन्दित हो जाता है तो एक दम क्रीडा करने लगता है। परमेश्वर तो सदैव परिपूर्ण आनन्दमयता से परिस्पन्दित होता ही रहता है, अतः सदैव क्रीडा शील बना रहना उसका नैसर्गिक स्वभाव ही है। बच्चा अपने से भिन्न विषयों को लेकर के उनसे खेलने लगता है, परन्तु परमेश्वर अपने अद्वैत के क्षेत्र में, जहां उससे भिन्न दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, अपने आप से ही खेलने लगता है। उसकी अपनी परमेश्वरता रूपिणी पराशक्ति क्या नहीं कर सकती। वह सब कुछ कर सकती है। अतः परमेश्वर उसी को लेकर के उसी के साथ क्रीडा करने लगता है और सदैव क्रीडा करता ही रहता है।

कवि को तब तक अपनी कवित्व शक्ति के चमत्कार का स्वाद आता नहीं जब तक वह उसे बाहिर प्रकट करके और अपने सम्मुख

रखकर उसका बिमर्शन न करे । सांसारिक कवि एक अल्पशाक्ति वाला कवि होता है, परन्तु परमेश्वर अपरिमित शक्तिवाला परम कवि है। मूलतः कवि वही है। इसीलिए भगवद्गीता में उसे—

"कविं पुराणमनुशासितारम्"

ऐसा कहा गया है । उसकी परमेश्वरता ही उसकी परिपूर्ण कवित्वशक्ति है । तो लौकिक कवि उस परिपूर्ण कवि का क्षुद्र प्रतिबिम्ब मात्र है, वास्तविक कवि वह स्वयं ही है ।

परमेश्वर अपनी परमेश्वरता को पूरी तरह से चमकाने के लिए उसको बहिर्मुखतया अभिव्यक्त करने की क्रीडा को सदैव करता ही रहता है। वह क्रीडा प्रतिबिम्ब के न्याय से प्रतिबिम्ब की ही तरह बहिर्मुखतथा अभिव्यक्त होती रहती है । उस क्रीडा के पाञ्च अङ्ग हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह ।

सृष्टि—जो कुछ भी कहीं है वह स्वयं परमेश्वर ही है जो अपनी लीला के विलास से अनन्त रूपों में स्वयमेव प्रकट होता रहता है। जो कुछ भी प्रकट होता है, वह वस्तुतः परमेश्वर ही के भीतर सदा विद्यमान रहता है। दही, मलाई, मक्खन, घी, खोया, पनीर, ये सभी पदार्थ दूध मे सदा ही रहते हैं, परन्तु वहां अपने व्यक्तिगत रूप में दूध से भिन्न बने हुए नहीं रहते, अपि तु दूध में दूध ही के रूप में रहते हैं। पानी में ये पदार्थ नहीं रहते । अतः पानी कभी दही, मक्खन आदि नहीं बन सकता। दूध में ही ऐसी शक्ति है कि वह इन पदार्थों के रूप में प्रकट हो सकता है । पानी ऐसा नहीं

बन सकता। इस लिए ऐसा हमझना चाहिए कि दही आदि पदार्थ दूध के भीतर दूध की शक्ति के रूप में रहा करते हैं; दूध की शक्तियां ही जब वहिर्मुखतया अभिव्यक्त होती हैं तो दही, मलाई आदि के रूप में प्रकट हो जाती हैं। तब ऐसा कहा जाता है और माना जाता है कि दूध और वस्तु है और दही, मक्खन आदि और वस्तुएं हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो वस्तुत: ये सभी वस्तुएं मुलत: दूध ही हैं, दूध ही इन इन रूपों में प्रकट होता रहता है। बस परमेश्वर में भी समस्त ब्रह्माण्ड की असंख्य वस्तुएं उसकी परमेश्वरता रूपिणी शक्ति के रूप में सर्वथा अभेदभाव से ही रहती हैं, और वही स्वयं इन इन रूपों में प्रकट होता रहता है। अन्तर इतना अवश्य है कि दूध जब दही, पनीर आदि बन जाता है तो वह दूध नहीं बना रहता। उसका स्वरूप-परिवर्तन हो जाता है, उसमें विकार आ जाता है; क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है, जड है, पराधीन है, बाहरी पदार्थों के प्रभाव से प्रभावित होता है। परन्तु परमेश्वर स्वतन्त्र है, उसमें कभी विकार नहीं आता, उसका स्वरूप-परिवर्तन नहीं होता। वह जगत् के रूप में प्रकट होता हुआ भी सदैव अपनी परिपूर्ण, असीम और शुद्ध चिद्रूपता से जरा भर भी विचलित नहीं होता। उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु कहीं है ही नहीं जो उस पर प्रभाव डाले और जिसके प्रभाव में आने की आशङ्का उसके विषय में कोई करे। जो विचारक यह कहते और सिखाते हैं कि परब्रह्म अपने से भिन्न माया तत्त्व के सम्पर्क से ही जीव, ईश्वर और जगत के रूप में प्रकट होता रहता है वे शैवदर्शन के तत्त्व की सूक्ष्मतर अनुभूतियों से वञ्चित होते हुए ही

शुष्क तर्कों के आश्रय पर वैसा कहते हैं। वैसे दर्शनशास्त्र सिद्धों की दृष्टि में अधर दर्शन हैं जो माया के क्षेत्र में ही शोभा पाते हैं, शुद्धविद्या के क्षेत्र में नहीं। शक्ति के क्षेत्र का तो वे स्पर्श भी नहीं कर पाते। तो फिर सिद्धों का कहना यही हैं कि समस्त विश्व परमेश्वररूप होता हुआ भी परमेश्वर की ही लीला के विलास से उससे भिन्नरूपतया जो प्रकट होता है वही इसकी सृष्टि है जो पारमेश्वरी लीला का पहला अङ्ग है।

जैसे सोने से अलङ्कारों की सृष्टि होती है उस तरह से यह पारमेश्वरी सृष्टि नहीं होती। अलङ्कार बनते बनते सोने की ढली के आकार में परिवर्तन आता है। फिर जैसे दूध से दही की सृष्टि होने पर दूध के स्वरूप में विकार आता है, वैसे परमेश्वर में कोई विकार या परिणाम नहीं आता। परमेश्वर जगत् के रूप में प्रकट होता हुआ भी स्वय जगत बनता नहीं। वह शुद्ध चिदानन्दघन ही सदैव बना रहता है। तो यह सृष्टि उस तरह से होती है जिस तरह से एक निर्मल दर्पण के भीतर नगर, ग्राम, वन आदि असंख्य विषयों के प्रतिबिम्बों के पड़ जाने से उसके भीतर उनका आभासमात्र होने लग जाता है। दर्पण पराधीन है, अतः उसे अपने से भिन्न नगर, ग्राम आदि की आवश्यकता पड़ती है। उनके साम्मुख्य से ही वह उन के प्रतिबिम्बों को अपने में चमका सकता है। परन्तु परमेश्वर स्वतन्त्र है। उसे अपने से भिन्न किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। उससे भिन्न कोई वस्तु है भी तो नहीं जिसकी आवश्यकता की आशंका की जा सके।

तो वह अपने चित्प्रकाश के भीतर अपनी ही पारमेश्वरी शक्तियों के प्रतिबिम्बों को प्रकट करता हुआ संसार की सृष्टि करता है। उसकी शक्तियां उससे अभिन्न हैं, "अहं" ही के रूप में चमकती रहती हैं, परन्तु उनके प्रतिबिम्ब जब बहिर्मुखता से प्रकट हो जाते हैं तो उससे भिन्न प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा प्रतिबिम्ब का स्वभाव हैं कि वह बिम्ब से विपरीत होता हुआ ही प्रकट होता है। पूर्वाभिमुख मानव का जो प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है वह पश्चिमाभिमुख होता हुआ ही प्रकट हो जाता है। तो परमेबर से अभिन्न जगत का प्रतिबिम्बन्याय से भिन्न-रूपतया प्रकट होना ही उसकी सृष्टि है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड वस्तुतः शिवरूप हैं, पूर्ण चिदानन्द हैं और एक मात्र परिपूर्ण "अहं" स्वरूप हैं। भेद कोई भी कहीं भी है ही नहीं। फिर भी सब कुछ भिन्न भिन्न रूपता से ही प्रकट हो रहा है, और वैसे ही जाना जा रहा है। इस तरह से इसका प्रकट होना ही इस की सृष्टि हैं। इस सृष्टि को परमेश्वर स्वयं अपनी लीलामयी इच्छा के अनुसार अपनी शक्ति के बल से प्रतिबिम्बवत् अपने ही चित्प्रकाश के भीतर अभिव्यक्त करता रहता है। ऐसा करते रहना उसका स्वभाव है। यही उसकी परमेश्वरता है। यदि उसका स्वभाव ऐसा न होता तो वह परमेश्वर ही नहीं होता, शून्य गगन तुल्य ही होता। होता भी या होता ही नहीं, इस बात का न प्रश्न ही उठता न समाधान ही होता।

इस सृष्टि में परमेश्वर ही अनन्त प्रकार के वैचित्र्य से असंख्य प्रमाताओं और असंख्य प्रमेयों के रूप में प्रकट होता है। फिर इस प्रपंच का सञ्चालन करने के लिए अनेकों ही स्तरों पर अनेकों

ही प्रभावों वाले अनेकों ही प्रशासकों के रूपों में भी स्वयं प्रकट होता रहता है। वे प्रशासक प्राणी ही कई एक स्तरों के देवगण होते हैं जो इस मायामयी सृष्टि को परमेश्वर के द्वारा ठहराई हुई नियति के नियमों के अनुसार न्यायपूर्वक चलाते रहते हैं। युगयुगान्तरों और कल्पों तथा महा कल्पों तक इस सृष्टि को चलाते रहना और इसे चलते हुए ही ठहराए रखना परमेश्वर का एक और कृत्य है जिसे स्थिति-कृत्य कहते हैं। यह उसकी पारमेश्वरी लीला का दूसरा अंग है।

इस लीला का तीसरा अंग संहार है। समय समय पर परमेश्वर कार्यजगत को उसके उपादान कारणों में विलीन भी करते रहते हैं। कार्य तत्त्वों का अपने अपने कारण तत्त्वों में विलय होना ही संहार कहलाता है।

घर में खजाना है। उसके होने में कोई भी चमत्कार नहीं। चमत्कार यदि कोई है तो उसे खोज करके साक्षात् अपने हाथ में लाकर उसका विमर्शन करने में है। उसी प्रयोजन को पाने के लिए जयपुर के दुर्ग की कितनी खुदाई होती रही। बस उसी तरह से परमेश्वर होने में कोई चमत्कार नहीं। यदि होता तो एक चट्टान को भी होता, क्योंकि वह भी परमेश्वर ही है। हम सभी परमेश्वर हैं। परन्तु हमें उस बात से कोई चमत्कार होता ही नहीं। हमें अतीव तुच्छ और क्षुद्र विषय-भोगों से चमत्कार तो होता है, परन्तु अपने परमेश्वर भाव के होने से कुछ नहीं होता है। उसको पहचान लेने में ही हमें अपूर्व और असीम चमत्कार होता है। अतः

परमेश्वर अपनी परमेश्वरता को पहचानने से अपूर्व चमत्कार को चमका देने के लिए ही इस सृष्टि आदि की लीला का अभिनय करता रहता है। परन्तु प्राणी उसी को पहचानता है जिसे वह पहले भूल गया हो। अतः स्वरूप को साक्षात् पहचान लेने के अपूर्व चमत्कार के लिए परमेश्वर उसे खेल खेल में ही भुला डालता है और अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति सम्पन्न साधारण जीव के रूप में प्रकट होकर अज्ञान गर्त्त में नीचे ही नीचे जाता हुआ चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है। यह परमेश्वर का स्वरूप तिरोधान रूपी चतुर्थ कृत्य है। इसी कृत्य के प्रभाव से कभी कभी दीक्षित साधक की भी श्रद्धा ढीली पड़ जाती हे और वह गुरु की मन्त्र की और साधना की निन्दा करने लग जाता है। प्राणी ऐसी लीला में अनन्त प्रकार से क्लेशों, दुःखों और क्षुद्र सुखों का भोग असंख्य जन्म-जन्मान्तरों में करता हुआ इस संसार चक्र में चिरकाल तक घूमता ही रहता है। तदनन्तर परमेश्वर स्वयमेव जीवरूप में विद्यमान् अपने आप को ही ऐसी प्रेरणा कर देता है जिससे उसी रूप में रहता हुआ ही वह सद्गुरु की शरण में आता है, सत्-शास्त्रों का अध्ययन करता है, सद्-उपायों का अनुष्ठान करता है, भक्तिपूर्वक परमेश्वर की उपासना करता है और शाम्भव आदि योग प्रक्रियाओं के अभ्यास से अपने अज्ञान को मिटा देता हुआ अपनी भूल को जड़से ही उखाड़ कर और अपने आपको परिपूर्ण परमेश्वर ही के रूप में पहचान कर अपनी परमेश्वरता की साक्षात् अनुभूति के चमत्कार से सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है। इस तरह से अपने स्वरूप और स्वभाव को भुला डाल कर उसे अधिक अधिक

छिपाते जाना परमेश्वर की पारमेश्वरी लीला का चौथा अंग है जिसे पिधान, तिरोधान, विलय या निग्रह कृत्य कहते हैं। उपरोक्त ढङ्ग से अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेने के मार्ग में जीवरूपता में चलते हुए अपने ही आप को प्रवृत्त करके और उस पर उसे सफलता पूर्वक चलाते हुए उसके द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान करवाने की क्रीडा को अनुग्रह कृत्य कहते हैं जो पारमेश्वरी लीला का पांचवां और अन्तिम कृत्य है।

इन पांच अङ्गों वाली पारमेश्वरी लीला के भीतर परमेश्वर जिन जिन असंख्य रूपों में प्रकट होता रहता है उनके छत्तीस वर्ग सिद्धों की दर्शन विद्या मे ठहराए गए हैं। ऐसा वर्गीकरण उस परतत्त्व के स्वरूप और स्वभाव को ठीक तरह से समझने और समझाने के लिए किया गया है। उन छत्तीम वर्गों को छत्तीस तत्त्व कहते हैं। स्वयं परिपूर्ण परमेश्वर ही छत्तीस तत्त्वों के रूप में प्रकट होता रहता है। अतः छत्तीसों ही तत्त्व वस्तुतः परमेश्वर ही हैं। परमेश्वर-भाव ही उनका वास्तविक और अकल्पित स्वरूप है। तत्त्वरूपता उनका कल्पित नाम-रूपात्मक आकार मात्र है। प्रकृत स्तोत्र में उन छत्तीसों तत्त्वों के रूप में परिपूर्ण परमेश्वर की स्तुति की गई है। उस परिपूर्ण परमेश्वर को सिद्धों की परिभाषा में परम शिव कहते हैं। परम शिव वह परिपूर्ण परब्रह्मतत्त्व है जिसमें से छत्तीसों ही तत्त्वों का उदय दर्पणनगर न्याय से हुआ करता है और जिसमें पुनः उनका लय भी हुआ करता है तथा जिसकी स्वभाव-भूत लीला के विलास से ऐसा हुआ करता है।

छत्तीस तत्त्वों में आरोह क्रम से पहले स्थूल पञ्च महाभूत आते

हैं। वे हैं--पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनकी अभिव्यक्ति पांच सूक्ष्म तत्त्वों से होती है। उन्हें पांच तन्मात्र तत्त्व कहते हैं। वे हैं आरोह क्रम में— गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। इन्हें तन्मात्र तत्त्व कहते हैं। ये दस प्रमेय तत्त्व हैं। इन का आविर्भाव तमोगुण प्रधान अहङ्कार से होता है। इन से ऊपर रजोगुण प्रधान अहङ्कार में से प्रकट होने वाले पांच कर्मेन्द्रियों का स्थान है। वे हैं, उपस्थ, पायु, पाद, हस्त और वाणी। इन पांच कर्मेन्द्रियों के द्वारा, आनन्द की अनुभूति, मलत्याग, गमन, ग्रहण और भाषण की क्रियाएं होती हैं। इनसे ऊपर पांच ज्ञानेन्द्रियों का स्थान है। उनकी सृष्टि सत्त्वगुण प्रधान अहङ्कार से होती है। वे तत्त्व हैं—घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और कान। ये पांच ज्ञानेन्द्रियां क्रम से गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श और शब्द का ज्ञान प्राप्त करने के साधन बनती हैं। इन सभी इन्द्रियों का राजा मन है। वह भी अहङ्कार से ही उत्पन्न होता है। उसका काम होता है वस्तु के विषय में नामों और रूपों की कल्पना करना। इन तत्त्वों का ऐसा क्रम सांख्य शास्त्र में भी और काश्मीर शैवदर्शन में भी माना गया है। परन्तु पूज्यपाद श्री आचार्य महोदय को जो अपने कुल के क्रम से सिद्ध-विद्या प्राप्त हुई थी उसके अनुसार पांच तन्मात्रों का स्थान दस इन्द्रियों से ऊपर और मन से नीचे है। तदनुसार पहले पञ्चतन्मात्रों की सृष्टि होती है, फिर ज्ञानेन्द्रियों की, फिर कर्मेन्द्रियों की और तदनन्तर पांच भूतों की। आ० अभिनवगुप्त ने यह सिद्धान्त ठहराया है कि तत्त्वों का क्रम भिन्न भिन्न जीवों के प्रति भिन्न भिन्न प्रकार का भी हो सकता है और एक जैसा भी। अस्तु। आचार्य महोदय की

दृष्टि में मन और बुद्धि एक ही तत्त्व हैं । इस एक ही अन्तःकरण के विषय के प्रति उन्मुख बहिर्मुखी स्वरूप को मन कहते हैं और आत्मा के प्रति उन्मुख अन्तर्मुखी स्वरूप को बुद्धि कहते हैं । मन विषयभूत वस्तु के अनेकों ही सम्भव नाम-रूपों की कल्पना करता है और बुद्धि किसी एक नामरूप की जोड़ी का निश्चय करती है और शेष का निषेध । जैसे जब आंख किसी ऊंची खड़ी वस्तु के प्रतिबिम्ब को पकड़ कर उसे मन को निवेदन करती है तो मन उस पर खम्बे के या सिपाही के या वृक्ष के ठूंठ के नामों और रूपों की कल्पना करता है । बुद्धि यह निश्चय करती है कि यह खम्बा है, न ठूंठ है और न सिपाही है । मनो-बुद्धि-मय इस तत्त्व के ऊपर अहङ्कार तत्त्व का स्थान है । अहंकार जड वस्तु के प्रति अहन्ता के भाव को कहते है । हमारा अपना आप या 'अहं' तो वस्तुतः शुद्ध और आनन्दमयी चेतना है, परन्तु हम जाग्रत अवस्था में शरीर को, स्वप्न में बुद्धि को और सुषुप्ति में प्राण को अपना आप समझते रहते हैं । हमारा ऐसा कृत्रिम अहम्-भाव ही अहङ्कार है । हमारे सभी कार्य-कलाप इन्द्रिय-शक्तियों के द्वारा किए जाते हैं, परन्तु हमारे भीतर ऐसा भाव रहता है कि अमुक अमुक विषय हमने जाना और अमुक अमुक क्रिया हमने की । इस प्रकार का हमारा यह कृत्रिम और कल्पित अहंभाव रूपी अभिमान ही अहंकार कहलाता है । इसी से सभी ऊपरोक्त तत्त्वों की सृष्टि होती है । इस अहङ्कार के उद्गम का जो स्रोत है उसे महत्तत्त्व कहते हैं । यह एक समष्टिरूप बुद्धितत्त्व होता है और ऊपरोक्त बुद्धि-तत्त्व एक एक प्राणी के निश्चय कराने वाले अपने अपने बुद्धिरूपी अन्तः करण का नाम है । यह

महत्तत्त्व मूल-प्रकृति का एक सत्त्वगुण प्रधान परिणाम है । मूल-प्रकृति तीनों गुणों की साम्य-अवस्था का नाम है । उस साम्य के भीतर ऊपरोक्त तेईस तत्त्व इस तरह से समाए रहते हैं कि किसी के भी न तो नाम का ही कुछ पता चलता है और न रूप का ही । यह मूल प्रकृति जड़ है ओर वेद्य है । इसका वेदक एक चेतन तत्त्व है जिसे पुरुषतत्त्व कहते हैं । यहां तक के पच्चीस तत्त्वों की खोज सांख्य शास्त्र के गुरुओं ने भी की है ।

इस प्रकृति दशा से ऊपर के ग्यारह तत्त्वों का ज्ञान शैव सिद्धों को ही हुआ । अत: शैव दर्शन में ही छत्तीस तत्त्व माने गए हैं । सिद्धों की दृष्टि में एकमात्र परमशिव ही परिपूर्ण परब्रह्म है । वही अपने आप को प्रतिबिम्बवत् इन छत्तीस तत्त्वों के रूप में प्रकट करता है । वही स्वयं अपने आप पुरुष तत्त्व के रूप में प्रमाता है और प्रकृति तत्त्व के रूप में प्रमेय है परन्तु भेद-दशा में प्रकट होने वाले इन दो रूपों में अपने आप को अभिव्यक्त करने की उसकी लीला में भी कई एक सोपान होते हैं जिन के क्रम से ही ऐसी अभिव्यक्ति हुआ करती है । उस क्रमिक अभिव्यक्ति का यह प्रकार है—

परमशिव एक अखण्ड तथा असीम अद्वैत तत्त्व है जो सर्वथा एकमात्र पारमार्थिक सत्य तत्त्व है । वह परिपूर्ण चिद्रूप है और परिपूर्ण आनन्द उसका स्वभाव है । आनन्द के अतिशय से वह लीलामय बना रहता है । अपनी उस स्वभावभूत लीला के विलास के द्वारा वह अपनी परमेश्वरता को बहिर्मुखतया अभिव्यक्त करने

लगता है। ऐसा करते हुए अन्ततो गत्वा अपने भीतर "अहं" के रूप में विद्यमान विश्व को जब "इदं" के रूप में प्रतिबिम्ब-न्याय से स्पष्टतया प्रकट करता है तो एक ओर से सीमित प्रमाता के रूप में पुरुषतत्त्व बन कर और दूसरी ओर से प्रमेय के रूप में प्रकृति-तत्त्व बनकर प्रकट होता है। परन्तु इन दो रूपों में प्रकट होने से पहले कुछ अन्य सूक्ष्मतर तत्त्वों के रूपों को भी धारण करता है। सब से पहले जिन दो तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है वे हैं—(१) शिव और (२) शक्ति। शिवतत्त्व वह शुद्ध और असीम चेतना है जिसमें से सभी तत्त्वों का आविर्भाव होता है और जिसमें इन सभी का लय हो जाता है तथा जिसके भीतर यह सब कुछ होता है और जिसकी इच्छा के अनुसार जिसके सामर्थ्य से यह होता है। इस लीलामयी अभिव्यक्ति के प्रति उस शिव तत्त्व में जो आनन्दमयी आध्यात्मिक गतिशीलता आती रहती है वह उसकी शक्ति है। तो एक ही परमशिव तत्त्व को शिव तत्त्व भी कहते हैं और शक्ति-तत्त्व भी। उसके स्थिर और अविचल स्वभाव की दृष्टि से सिद्ध जन उसे शिव कहते हैं और उसी के इस अभिव्यञ्जन-शील स्वभाव की दृष्टि से उसे ही शक्ति-तत्त्व कहते हैं। संक्षेप से यह समझिए कि शिव तत्त्व परमशिव के अविचल और स्थिर पहलू का नाम है और शक्तितत्त्व उसकी उस स्पन्द-शीलता का नाम है जिस के द्वारा उसकी परमेश्वरता की यह बहिर्मुखी अभिव्यक्ति हुआ करती है जिस का आभास छत्तीसों तत्त्वों के प्रति सृष्टि-संहार आदि पांच पारमेश्वरी लीलाओं के रूप में हुआ करता है। तो स्वरूप में स्थित परतत्त्व को शिव तत्त्व और सृष्टि

आदि के प्रति उन्मुख बने हुए उसी परतत्त्व को शक्ति तत्त्व कहते हैं। ऐसी सिद्धसम्प्रदाय की उपदेश-परम्परा है।

अपने भीतर परिपूर्ण "अहं" के रूप में सदा विद्यमान विश्व को परमेश्वर जब अपने से भिन्न रूप में "इदं" के रूप में प्रकट करने लग जाता है तो सर्व—प्रथम उस शुद्ध और असीम 'अहं" के चेतनात्मक प्रकाश के भीतर "इदं" अंश की धीमी सी छाया जैसी अस्फुट प्रतिबिम्ब के रूप में प्रकट होने लगती है। विश्व सृष्टि के इस सब से प्रथम बहिर्मुख स्पन्दन को सदाशिव-तत्त्व कहते हैं। यह तत्त्व शैव दर्शन में तीसरा तत्त्व होता। इस तत्त्व में प्रमाता को ऐसा विमर्श होता है कि "अहम् इदम्", अर्थात् "मैं यह हूं।"

चौथी सीढ़ी पर वह अस्फुट 'इदं' इतना स्फुट हो जाता है कि अपने आभास से 'अहं' अंश को फीका सा कर देता है और स्वयं प्रधानतया प्रकाशित होने लग जाता है कि "इदम् अहम्"—अर्थात् यह प्रमेय तत्त्व मैं हूं। विश्वसृष्टि की इस अवस्था को ईश्वरतत्त्व कहते हैं जो छत्तीस तत्त्वों में चौथा तत्त्व है। तीसरे तत्त्व में अहन्ता के आभास की प्रधानता रहती है और इस चौथे तत्त्व में इदंता के आभास की। इन दोनों तत्त्वों में ठहरने वाले अहंरूप प्रमाता को अपने 'अहं' के और इस 'इदं' के बीच में परस्पर अभेद भी प्रकट होता है और भेद भी। अतः इसे भेदाभेद दशा कहते हैं। शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व दोनों ही अभेद दशा के तत्त्व हैं। वस्तुतः वे दोनों एक ही हैं; केवल समझने और समझाने के लिए दो नामों से और दो दृष्टिकोणों से उन पर विचार विमर्श

किया जाता है । सदाशिव तत्त्व और ईश्वर तत्त्व में 'अहम्' और 'इदम्', इन दो भिन्न भिन्न अंशों का आभास होता है अतः यहां भेद प्रकट होता है, परन्तु साथ ही दोनों में परस्पर अभेद भी प्रकट हो ही जाता है, अतः यहां अभेद का भी आभास होता है। इसी लिए इस दशा को भेदाभेददशा कहा जाता है । इस दशा में ठहरे हुए प्राणियों की उस भेदाभेदमयी दृष्टि को शुद्धविद्या कहते हैं । जिसके द्वारा वे "अहम् इदम्" या "इदम् अहम्" ऐसा भेदाभेदमय विमर्शन करते रहते हैं । उन की ऐसी दृष्टि ही उनके विमर्शन का साधन बनती है । उनके इस करण-स्थानीय दृष्टिकोण को शुद्धविद्या नामक पांचवां तत्त्व सिद्धों ने माना है । यहां तक की सृष्टि शुद्ध सृष्टि है, क्योंकि न तो प्रमाता अपने शुद्ध चिन्मय स्वरूप को ही भूलते हैं और न ही अपने पारमैश्वर्य रूपी स्वभाव को । फिर यहां कोरे भेद का भी आभास नहीं होता। इस शुद्ध सृष्टि को स्वयं परमेश्वर अपने ही ऐश्वर्य के बल से सदा करते रहते हैं ।

परमेश्वर में ऐसी स्वातन्त्र्य-शक्ति है जिस के द्वारा वह असम्भव को भी सम्भव बना सकता है और इस तरह से अपने से सर्वथा अभिन्न प्रमेय जगत् को अपने से सर्वथा भिन्न रूप में प्रकट करता हुआ एक ओर से परिमित प्रमाता के रूप में और दूसरी ओर से प्रमेय के रूप में जब स्वयं प्रकट हो जाता है तो प्रमाता पुरुष के रूप को और प्रमेय प्रकृति के रूप को धारण करते हैं । पुरुष प्रकृति से भिन्न होता है और प्रकृति पुरुष से भिन्न । परमेश्वर की इस अनोखी शक्ति को परा माया शक्ति कहते हैं । जब परमेश्वर इस मायाशक्ति के प्रतिबिम्ब को अपने प्रकाश में चमकाता है तो

उसका बहिर्मुख प्रतिबिम्ब माया तत्त्व के रूप में प्रकट हो जाता है। यह तत्त्व सब से पहला मलिन तत्त्व है। आगे यही समस्त विश्व का उपादान कारण बन जाता है। इसके सभी परिणाम जड़ हैं, यहां भेद दृष्टि की ही प्रधानता रहती है। जड़ता और भिन्नता के कारण इस सत्त्व को मलिन तत्त्व कहते हैं। इस तत्त्व के भीतर रहने वाले प्राणी शुद्ध और ऐश्वय सम्पन्न चेतना को अपना आप न समझते हुए परिमित और अनीश्वर रूप चेतना को ही "अहं" समझते रहते हैं। इस कारण से भी यह तत्त्व मलिन तत्त्व कहलाता है। यह मायातत्त्व प्रमाता की परमेश्वरता को छिपा देता है। अतः इसे आवरणकारी तत्त्व माना गया है, परन्तु है तो यह भी परमेश्वर का ही एक लीलामय रूप। अतः वस्तुतः यह भी परमेश्वर ही है, यदि इसे वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाए। सिद्धों के दर्शनों में तत्त्व क्रम की परम्परा में यह छठा तत्त्व है।

परमेश्वर अपनी पारमेश्वरी लीला में अपनी परमेश्वरता की बहिर्मुखी अभिव्यक्ति को स्फुटतया प्रकट करने के लिए शुद्धविद्या क्षेत्र के निचले स्तर पर अवतार रूप में उतर कर भगवान् अनन्तनाथ के रूप में प्रकट हो जाते हैं। माया के भीतर पड़े हुए प्राणियों का ऐश्वर्य माया के द्वारा लुटा हुआ होता है। अतः उनके भीतर एक अभाव जैसी, एक खालीपन जैसी, तथा एक कुण्ठा जैसी अपूर्णम्मन्यता हुआ करती है जिसको वे बेचारे विषय भोगों के द्वारा पूरा करने के लिए लोलुप बने रहते हैं। तो उनकी इस लोलिका नामक अपूर्णम्मन्यता को और भोग लोलुपता को दृष्टि में रखते हुए

भगवान् अनन्तनाथ उनकी भोगसिद्धि के लिए माया तत्त्व को प्रक्षुब्ध करके उस में से परिमित प्रमाता को सीमाओं के भीतर बान्धने वाले तत्त्वों को प्रकट करते हैं। क्योंकि भोग सीमितता की ही अवस्था में सम्भव होता है । उन तत्त्वों को कञ्चुक तत्त्व कहते हैं। वे तत्त्व पांच हैं और माया भी स्वयं एक कञ्चुक है । इस तरह से कञ्चुक छ: बनते हैं। इन छ: कञ्चुकों समेत ऊपरोक्त पांच शुद्ध तत्त्वों को जोड़ने से वे ग्यारह तत्त्व बनते हैं जिनकी खोज सिद्धों की परम्पराओं में ही हुई है।

प्रमाता वस्तुत: सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है, परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है और असीम है, परन्तु माया उसकी इन सभी विभूतियों का आवरण करके इन्हें मानो लूट लेती है । तदनन्तर थोड़ा बहुत काम चलाने के लिए उसे थोड़े-थोड़े सामर्थ्य दे भी देती है । उसके सामर्थ्यों का तथा स्वरूप का ऐसा अत्यन्त संकोच ही पांच प्रकार के कञ्चुक तत्त्वों के रूप में समझाया जाता है । माया प्राणी की सर्वकर्तृता को छिपा करके किसी किसी ही वस्तु को या क्रिया को करने की शक्ति उसे दे देती है। उसकी इस थोड़ा सा ही करने की सामर्थ्य को कला कहते हैं। जाने बिना कुछ किया नहीं जा सकता । अत: माया उसे थोड़ा बहुत जानने की सामर्थ्य भी दे ही देती है । उसकी इस सीमित ज्ञान सामर्थ्य को अशुद्धविद्या कहते हैं, जो उसका दूसरा कञ्चुक होता है। फिर उसके ज्ञान को तथा क्रिया को और भी सीमित बनाए रखने के लिए माया उसमें एक संकुचित रुचि को प्रकट कर देती है । उसकी सीमा में आकर वह किसी किसी विशेष

वस्तु या क्रिया को ही जानने के और करने के प्रति प्रवृत्त होता है, सब के प्रति नहीं। इस तीसरे कञ्चुक को राग कहते हैं। प्राणी किसी किसी विशेष वस्तु या विशेष क्रिया को ही बहुत बहुत गुणशाली समझता रहता है, औरों के प्रति प्रवृत्त नहीं होता। उसका यह चौथा कञ्चुक राग कहलाता है। प्रमाता सर्वथा परिपूर्ण है, फिर भी अपने को अपूर्ण मानता हुआ केवल किन्हीं विशेष विषयों को प्राप्तव्य समझता है। यह भी उसका राग ही है। प्रमाता असीम है। परन्तु वह काल की कल्पना करता हुआ उसकी सीमा के भीतर अपने आप को तथा अपने जानने और करने को सीमित करता हुआ समझ बैठता है कि मैं था, "मैं हूं, मैं होऊंगा" इत्यादि। इस कालिक कल्पना का इतना गहरा संस्कार प्राणी के अपने आप पर पड़ा ही रहता है कि वह अपने किसी भी काम को काल की सीमा के भीतर बान्धे विना कभी सोचता ही नहीं, जानता ही नहीं और कहता ही नहीं। यह कालिक सङ्कोच उसका एक और कञ्चुक है जो उसके अपने आप को भी कालिक सीमा से सीमित करता है। प्राणी वस्तुतः स्वतन्त्र है, परन्तु माया के घेरे में आने पर जानने, करने और चाहने में भी पग पग पर प्रकृति के नियमों के बन्धन में पड़ कर जो कुछ भी करता या जानता है उसे प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही जानता है और करता है। विना नेत्र खोले देख ही नहीं सकता, अंधेरे में भी देख नहीं सकता, आकाश में जा नहीं सकता, अरुचिकर वस्तु को चाह नहीं सकता। प्राणी की कला में, अशुद्धविद्या में और राग में प्राकृतिक नियमों के कारण लाए गए इस विशेष सङ्कोच को

नियति कहते हैं। यह प्राणी का पांचवां कञ्चुक है। माया समेत ये सभी कञ्चुक मायीय प्राणी के अपने आप के अन्तरङ्ग कञ्चुक है। कञ्चुक का अर्थ होता है चोला। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर प्राणी के बाहरी चोले होते हैं, जिन्हें वह पहनता भी है और उतार भी देता है। परन्तु ऊपरोक्त छः कञ्चुक उसके अभिन्न अङ्ग जैसे बने रहते हैं। ये उसकी आत्मा की अभिन्न विशेषताएं हैं। इन छः कञ्चुकों के द्वारा घेरी हुई परिमित चेतना को ही पुरुष तत्त्व कहते हैं और उसके प्रमेय तत्त्व को प्रकृति तत्त्व कहते हैं। उनका तथा अन्य तेईस तत्त्वों का निरूपण पीछे किया गया है।

छत्तीसों ही तत्त्वों के रूप में स्वयं परमेश्वर ही अपनी लीला के विलास से प्रकट होता रहता है, अतः सिद्ध जन इन छत्तीसों ही तत्त्वों को एकमात्र परमेश्वर ही के रूप में देखते हैं। सराफ की दुकान पर जाकर स्त्रियां भिन्न भिन्न अलङ्कारों को भिन्न भिन्न नामो और रूपों से देखती हैं, जानती हैं और पसन्द करती हैं। परन्तु सराफ उन सब को एकमात्र स्वर्ण की दृष्टि से ही देखता है। उसके पास बेचने के लिए बीसों भषणों को ले जाया जाए तो वह उनके आकार की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसकी दृष्टि यही देखती है कि किसमें सोने की मात्रा कितनी है। इसी तरह से सिद्धजन केवल छत्तीस तत्त्वों ही को नहीं अपितु उनके विकार-स्वरूप इस सारे ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश को भी परमेश्वर के ही रूप में देखते हैं। यही सिद्धों की अद्वैत दृष्टि है जिस में द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत सब कुछ एक परमेश्वर ही दीखता है। उनकी

ऐसी दृष्टि को पराद्वैत दृष्टि कहते हैं और यह पराद्वैत ही वास्तविक अद्वैत है, "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" वाला अद्वैत आपेक्षिक अद्वैत है, पारमार्थिक अद्वैत नहीं। पारमार्थिक अद्वैत में तो सब कुछ सत्य ही है, और सब कुछ वस्तुतः ब्रह्म ही है, जगत् भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जो कुछ भी कहीं भी प्रतीत होता है, वह ब्रह्म ही है, जो उस उस रूप में स्वयं अपने को प्रकट करता रहता है। शैव-दर्शन की इस परम-अद्वैत की दृष्टि का आश्रय लेते हुए आचार्य महोदय के प्रकृत स्तोत्र में छत्तीसों तत्त्वों के रूप में एक स्वात्म परमेश्वर की ही स्तुति की गई है और साथ ही साथ उन तत्त्वों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है।

———

❀ श्रीः ❀

श्री-परमशिवस्तोत्रम्

स्तुति के प्रारम्भ में आचार्य महोदय सब से पहले दो श्लोकों के द्वारा अपने सद्गुरु भगवान दुर्वासा मुनीश्वर की आराधना करते हुए पहले इस प्रकार से प्रार्थना करते हैं –

शिवाप्तिकारणं तापवारणं लालितं हृदि ।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्मम ॥१॥

हमारे गुरुदेव के दो चरण हमारे लिए शिवभाव की प्राप्ति के कारण बने हैं, उन से हमें भवसन्तापों का निवारण हुआ है, वे हमारे हृदय में लालन प्राप्त कर चुके हैं, वे हमारे हृदय में अद्वय-भाव से चमकते रहें ।

द्वयं और अद्वयं कहने से यहां विरोधाभास अलङ्कार है । हृदि शब्द का सम्बन्ध देहलीदीप न्याय से लालितं और स्फुरतात् दोनों

पदों से लगता है। आचार्य महोदय गुरुचरणों को और अपने हृदय को अद्वैत दृष्टि से देख रहे हैं।

दूसरे श्लोक के द्वारा आचार्य महोदय उन्हीं गुरुदेव को प्रणाम करते हुए कहते हैं –

वन्देऽत्रिनन्दनं विश्ववन्दितं करुणार्णवम् ।
कोपभट्टारकं पूर्णयोगदीक्षाप्रदं गुरुम् ॥२॥

मैं करुणा के समुद्र, विश्व के द्वारा वन्दित, अत्रि मुनीश्वर के पुत्र और कोपभट्टारक नाम वाले अपने गुरु को प्रणाम करता हूं जिन्हों ने मुझे पूर्ण योग की दीक्षा दे दी।

दुर्वासा मुनीश्वर संसार पर अनुग्रह करते हुए प्रायः क्रोधमयी लीला का अभिनय करते रहे। इस कारण से कवियों ने उनका नाम कोपभट्टारक रखा। यहां उत्कृष्टतर शाम्भव योग को पूर्णयोग कहा गया है। उन्होंने आचार्य महोदय को साक्षात् दर्शन देकर शाम्भवयोग की सारी प्रक्रिया सिखा दी। उसी योग के अभ्यास से आचार्य महोदय को एक ओर से अपने वास्तविक शिवस्वरूप का स्फुट साक्षात्कार हुआ; दूसरे उन्हें सभी दर्शनशास्त्रों के रहस्यमय सिद्धान्त स्वयमेव बुद्धि के स्तर पर अङ्कित हो गए। भगवान् दुर्वासा क्रोध की लीला का अभिनय करते हुए भी वस्तुतः अनुग्रह की मूर्ति ही हैं। इस कारण से उन्हें करुणार्णव कहा गया है।

तृतीय श्लोक के द्वारा अपने माता पिता का नामोल्लेख करते

हुए स्तोत्रकार स्वात्म - परमेश्वर की जयकार इस तरह से करते हैं –

सामरस्य-समुल्लासः श्रीराधाकृष्णयोः परः ।
अहमात्माऽमृतासारि-वाग्भवो जयताच्चिरम् ।।३।।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण के परस्पर सामरस्य का अत्युत्कृष्ट समुल्लासरूपी अहंस्वरूप और अमृत को प्रवाहित करने वाली परावाणी से समुद्भूत अमृतवाग्भव नामक ग्रन्थकार की चिर काल तक जय जय कार हो ।

ग्रन्थकार श्री आचार्यमहोदय का घर में रखा हुआ नाम 'वैद्यनाथ' था और इन के माता पिता के नाम श्रीराधा और श्रीकृष्ण थे । इनकी कुलक्रम से प्राप्त आगमिक परम्परा के अनुसार 'व' अमृत बीज है और 'ऐ तो प्रसिद्ध वाग्बीज है ही । तो इन के नाम का पहला अक्षर अमृत बीज और वाग्बीज का एकीकरण है, अर्थात् व+ए=वै है । अतः ये अपने को 'अमृतवाग्भव' कहते और लिखते रहे ।

फिर तन्त्र से यह भी तात्पर्य जतलाया गया है कि श्रीराधा और श्रीकृष्ण शिव और शक्ति हैं । उनका परम सामरस्य "अहं" विमर्श है । अहं की यह जयकार की जा रही है ।

'अ' शिव है और 'इ' शक्ति है । इनका साधारण सामरस्य अ+इ=ए है । अ जब ए का अभिमुखतया विमर्शन करता है तो अ+ए=ऐ हो जाता है । यह शिव और शक्ति का परम

सामरस्य है। यही वाग्बीज है । यही अमृत को प्रवाहित करता है। अतः इसे अमृतासारि कहा गया है । यही परिपूर्ण "अहं" है और इसी की सतत जयकार की जा रही है।

पांचवें श्लोक के द्वारा वैद्यनाथ शिव की और मानवरूप में प्रकट हुए स्वात्मशिव की जयकार इस तरह से की जा रही है—

पञ्चकृत्यमिषान्नित्यं स्फारयन् स्वां वरां कलाम् ।
शिवो वरकलो वैद्यनाथो विजयतां सदा ॥४॥

(सृष्टि आदि) पांच पारमेश्वरी कृत्यों के बहाने से नित्य प्रति अपनी सर्वोत्तम पारमेश्वरी कला को विकास में लाते हुए भगवान् वैद्यनाथ शिव के और वरकल वैद्यनाथ नामक स्तोत्रकार के शरीर को धारण करने वाले तथा सर्वोत्तम पारमेश्वरी कला में कुशल शिव की सदा जयकार हो।

परमेश्वर की पारमेश्वरी कला का बहिर्मुख विकास सृष्टि आदि पांच कृत्यों ही के द्वारा हुआ करता है । यह पारमेश्वरी कला ही शिव की वरा-कला अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कला है । वैद्यनाथ धाम के शिव का नाम भी वैद्यनाथ है और आचार्य महोदय का भी वही नाम माता पिता के द्वारा रखा गया था । उनके वंश की अल्ल 'बड़कले' अर्थात् 'वरकल' थी। शिव ही उन के शरीर को धारण करके स्वयं उस रूप में प्रकट हुआ था । अतः स्वात्मशिव की ही जयकार इस श्लोक के द्वारा की गई है।

पांचवें पद्य के द्वारा मूलतत्त्व परमशिव को प्रणाम किया जा रहा है--

स्वभासाय स्वतृप्ताय स्वतन्त्राय स्वमानिने ।
स्वकारिणे स्वमूलाय कस्मैचिन्महसे नमः ॥५॥

किसी उस अनिर्वचनीय तेज (चित् प्रकाश) को हमारा प्रणाम हो जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान है, अपने आप में ही सुतृप्त है, स्वतन्त्र है, अपने आप को ही मानने वाला है, अपने आप को ही करने वाला है और स्वयं अपना मूल है ।

चिद्रूप शिव अपने चित् प्रकाश से ही स्वयमेव "अहं" इस रूप में सदा-चमकता हुआ प्रकट होता रहता है । परिपूर्ण होने के कारण उसे किसी की आकांक्षा नहीं । अतः स्वयं अपने में ही सुतृप्त है । किसी के अधीन नहीं है, जो चाहता है सो कर सकता है । किसी पर आश्रित नहीं है । कभी किसी बात के लिए उसे अपने से भिन्न किसी वस्तु या व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती । सब कुछ स्वयं अपने ही बल से करता रहता है । किसी भी कृत्य को करने के लिए उसे माया का, अविद्या का, वासना का, प्रकृति का, कर्मों का या नियति का मुख ताकना नहीं पड़ता है । अपने पांचों ही कृत्यों को स्वयमेव अपने ही बल से किसी का भी आश्रय लिए विना ही करता रहता है । ब्रह्मा आदि कारणेश्वर तो जीवों के कर्मों का आश्रय लेकर के ही उन्हीं के अनुसार और पारमेश्वरी नियति के नियमों के अधीन रह कर ही

सृष्टि इत्यादि करते रहते हैं। अतः वे स्वतन्त्र नहीं हैं। परन्तु परमशिव रूपी परिपूर्ण परमेश्वर सर्वथा स्वतन्त्र है। सब कुछ अपनी इच्छा के अनुसार अपने बल से ही करता रहता है। यही उसका स्वातन्त्र्य है। चिद्रूप होने के कारण उसे सदैव "अहं" इस प्रकार का स्वात्मविमर्शन होता ही रहता है। "अहं" इस रूप में वह अपने से भिन्न किसी भी देह, प्राण, आदि वस्तु का विमर्शन नहीं करता है; अपितु सदा असीम, स्वतन्त्र और ऐश्वर्यमय संवित्-स्वरूप अपने आप का ही विमर्शन करता रहता है। इस लिए "स्वमानिने" ऐसा कहा गया। तर्कप्रधान वैदान्तिक विवर्तवाद के अनुसार सृष्टि आदि पांच पारमेश्वरी कृत्यों को स्वय परब्रह्म नहीं करता है, अपितु मायारूपिणी उपाधि के संसर्ग से वह ईश्वररूपतया प्रकट होता हुआ तथा सृष्टि आदि कृत्यों को करता हुआ सा प्रकट होता है और वह भी अज्ञान से उपहत जीवों को उस तरह से प्रतीत होता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इस वैदान्तिक सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि सृष्टि आदि पारमेश्वरी कृत्य परब्रह्म के न होते हुए माया उपाधि वाले ईश्वर के होते हैं। तात्पर्य यह निकला कि ईश्वर को भी ईश्वरीय कृत्यों का निभाने के लिए माया का आश्रय लेना पड़ता है, जबकि सिद्धो की दार्शनिक दृष्टि के अनुसार परमशिव पांचों पारमेश्वरी कृत्यो का खेल स्वयं अपनी स्वभावभूत पारमेश्वरी शक्ति से करता रहता है और ऐसा करते रहना उसका नैसर्गिक स्वभाव ही है और यही उसकी परमेश्वरता है जिस के बल से केवल वही एकमात्र पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व है। वही समस्त तत्त्वों के सृष्टि-संसार आदि के खेल को अपने

ही चित् प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्बन्याय से प्रकट करता रहता है । ऐसा सिद्धान्त ही सिद्धों के दर्शन का स्वातन्त्र्य सिद्धान्त है जिसे दृष्टि में रखते हुए ही इस कारिका के द्वारा परमतत्त्व रूपी परमशिवतत्त्व का निरूपण किया गया है ।

दो प्रकार के दृष्टिकोणों को लेकर के उस परमशिव के विषय में विचार विमर्श किया जाता है । एक दृष्टिकोण से उसे एक मात्र शुद्ध, परिपूर्ण, असीम चैतन्यात्मक "अहं" के रूप में समझा जाता है । यह परमशिव को जानने के लिए ठहराया हुआ उसका मानो स्थिर, ध्रुव, तथा कूटस्थ पहलू है । इस ठहराए हुए पहलू में उसे शिव-तत्त्व कहते हैं । दूसरी दृष्टि से विचार करते हुए सिद्ध जनों ने उसके उस दूसरे पहलू को भी ठहराया है जिसमें वह पञ्चकृत्यों की लीला का अभिनय करता हुआ दर्पण-नगर-न्याय से अपने भीतर समस्त प्रपञ्च के सृष्टिसंहार आदि पारमेश्वरी कृत्यों का बहिर्मुखतया प्रदर्शन करता रहता है । यह उसका चल अर्थात् गतिशील पहलू है । इसे सिद्धों की भाषा में स्पन्दात्मक पहलू कहा गया है । इसी पहलू में परमशिव को शक्तितत्त्व कहा गया है । वस्तुतः शक्ति, शिव और परमशिव एक ही परतत्त्व को समझने और समझाने के लिए ठहराए हुए तीन नाम हैं जो उस पर–तत्त्व के वास्तविक स्वभाव को पूर्णतया स्पष्ट करते हैं । सिद्ध-जनों के उपदेशों के अनुसार उस परमशिवात्मक परमाद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार शिवरूपतया और शक्तिरूपतया करके ही उसे परमशिव-रूपतया हृदयङ्गम किया जा सकता है । उसे केवल एकरूपतया ही अनुभूति में लाया जाए तो अनुभूति अधूरी रह जाती है ।

वस्तुतः सच्ची और परिपूर्ण अनुभूति वही है जो शिवरूपतया, शक्तिरूपतया और परमशिवतया पूरी तरह से हृदयङ्गम बने।

अगली (छठी) कारिका में परमशिवात्मक परमेश्वर की स्तुति शिवतत्त्व के रूप में की जा रही है—

प्रकाशमात्ररूपाय विमर्शामर्शरूपिणे ।
नित्योदिताय शान्ताय नमो मह्यं शिवात्मने ॥६॥

जो एकमात्र प्रकाशात्मक है, विमर्श के द्वारा स्वात्मविमर्शन करना जिसका स्वरूप है, जो सततोदित प्रशान्त चित्तत्त्व है उस शिव रूपी मुझ को नमस्कार हो।

चेतना सदैव अपने प्रकाश से ही चमकती रहती है। एक क्षुद्रतम प्राणी भी स्वयमेव अपनी ही चेतना के प्रकाश से "अहं" इस रूप से चमकता है। फिर असीम और परिपूर्ण शिवात्मक चेतना का क्या ही कहना। वह तो चित्-प्रकाश ही है। सब कुछ उसके भीतर विद्यमान है, परन्तु वहां सब कुछ चितप्रकाश ही के रूप में ठहरता है, जैसे दूध में दही, मक्खन, घी आदि दूध के ही रूप में विद्यमान रहते हैं। दूध दूध ही है। उसी तरह से शिव चित्प्रकाश ही है। सूर्य आदि का प्रकाश जड प्रकाश है, परन्तु शिव चित्प्रकाश है। जड प्रकाश को अपनी सता का या अपनी प्रकाशरूपता का विमर्शन नहीं होता है। चित्प्रकाश को अपना विमर्शन "अहं" इस रूप से सदा होता ही रहता है। एक क्षुद्र प्राणी को भी अपना विमर्शन अर्थात self awareness सदा

होती ही रहती है । परिपूर्ण शिवरूप चित्प्रकाश को न केवल अपनी सत्ता ही का विमर्शन होता रहता है अपि तु अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता का भी विमर्शन उसे सतत गति से होता ही रहता है । इसी लिए उसे "विमर्शामर्शरूपिणे" कहा गया। शिव का चित्प्रकाश कालगणना से अतीत है, वह काल की सीमा से परे ठहरा हुआ चमक रहा है, अत: उसका आपेक्षिक उदय या आपेक्षिक अस्त होता ही नहीं। वह सदैव उदित ही रहता है। अत: उसे "नित्योदिताय" कहा। शिव परमेश्वर के स्थिर, अविचल पहलू को कहा गया है। तात्पर्य यह है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सृष्टि-संहार आदि के होते रहने पर भी परमशिव के चित्प्रकाश में कोई भी परिवर्तन नहीं आता है । वह सदैव एकमात्र असीम, परिपूर्ण पारमैश्वर्यसम्पन्न और शुद्ध तथा स्वतन्त्र चित्प्रकाश ही के रूप में लगातार चमकता ही रहता है, उसमें कभी भी कोई विकार या परिणाम नहीं होता है । सदैव एकरूपतया चमकता रहता है । उस की इस विशेषता को जतलाने के लिए उसे "शान्ताय" ऐसा कहा गया । वस्तुत: वह शिवात्मक चित्प्रकाश ही प्राणी का वास्तविक "अहं" है। फिर शिवयोगी को अपने स्वरूप की वैसी अनुभूति भी हुआ करती है । इस लिए उसे "मह्यं शिवात्मने" कहा गया ।

चेतना का निरूपण सिद्धों ने दो प्रकार से किया है । उन्होंने उसके दो पहलुओं की कल्पना की। एक है उसका ऊपरोक्त स्थिर-भाव और दूसरा है चलभाव का पहलू । स्थिरभाव में उसे प्रकाश कहा गया और प्रकाश के ही चलभाव को विमर्श कहा गया ।

प्रकाश प्रकटता है और विमर्श उस प्रकटता की प्रतीति है। प्रकाश अभेदात्मक ज्ञान है और विमर्श जानने की क्रिया है । प्रकाश शिव-रूपता है और विमर्श शक्तिरूपता है । प्रकाश कभी विमर्शहीन नहीं होता और विमर्श कभी प्रकाश रहित नहीं होता । विमर्शहीन प्रकाश तो दीपक आदि का जड प्रकाश होता है । प्रकाश हीन वस्तु का प्रकाशन ही नहीं हो सकता । अत: उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती। सिद्धों ने परिपूर्ण चित्प्रकाश रूपी परमशिव को ही उसकी प्रकाशरूपता को लेकर के ऊपरोक्त प्रकार से प्रकाश कहा और उसी को उसकी विमर्शरूपता को लेकर के उसे विमर्श कहा। प्रकाश उन्होंने उसकी शिवरूपता को कहा जिसकी स्तुति ऊपर की कारिका द्वारा की गई। उन्होंने उसी को उसकी शक्ति रूपता को लेकर के विमर्श कहा जिसरूप में उसे अगली कारिका द्वारा प्रणाम किया जा रहा है —

विशालोल्लोललोलाय निजानन्दोर्मिमालिने ।
विलक्षणस्वरूपाय विमर्शाय नमो नमः ।।७।।

उस अतिविशाल और उत्तरङ्गित होते रहने वाले स्पन्दनशील विमर्श को हमारा प्रणाम हो जो अपने आनन्द की लहरों से सर्वत: परिवेष्टित है और उससे जिसका स्वरूप अत्यन्त विलक्षणताओं को लेकर के अभिव्यक्त होता रहता है।

परमेश्वर सदैव एक मात्र चित्प्रकाश के रूप में सतत गति से चमकता रहता है। परन्तु उसे अपनी परमेश्वरता का भी सदा विमर्शन होता रहता है । अपनी विभूति का विमर्शन ही तो

आत्म-आनन्द को अभिव्यक्त करता है। आनन्द सदा चमत्कारात्मक होता हुआ गतिशील होता है, चञ्चल होता है, स्पन्दन-शील होता है। इस बात को सभी सहृदय महानुभाव अपनी अनुभूति से जानते हैं। कालिदास जैसे महाकवि अहोरात्र काव्यरचना नहीं करते रहे। जिस समय कवि अपनी कवित्वशक्ति रूपिणी कला को अपनी अवधानमयी दृष्टि के सामने रख कर उसे स्वात्मतया निहारता हुआ उसका साक्षात् विमर्शन करता है तभी वह कवित्व-शक्ति उल्लोल बनकर अत्युत्तम काव्यसृष्टि के रूप में बहिर्मुखतया अभिव्यक्त हो उठती है। ऐसा होने पर ही कवि को अपने कवित्व से चमत्कारात्मक तुष्टि प्राप्त होती है।

परमेश्वर इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों वाले प्रपञ्चरूप विश्व-काव्य का परमकवि है। उसकी पारमेश्वरी शक्ति ही उसकी परमा कला है। उस स्वभावभता अपनी कला का जब वह "अहं" इस रूप से विमर्शन करता है, तो असीम और अनिर्वचनीय आनन्द के समुद्र की अभिव्यक्ति हो जाती है। उस असीम स्वात्म-आनन्द की लहरें ज्यों ही बहिर्मुखतया स्पन्दनशील हो जाती हैं, त्यों ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सृष्टि-संहार आदि के खेल चलने लगते हैं। ये खेल प्रतिबिम्बवत् प्रकट होते हुए परमेश्वर की शुद्ध चिद्रुपता में कोई भी विकार नहीं लाते। प्रत्युत उसकी परमेश्वरता को ही अभिव्यक्त करते रहते हैं। यदि ये खेल प्रकट नहीं होते रहते तो उसकी परमेश्वरता अभिव्यक्त नहीं होती और उससे होने वाला चमत्कार भी नहीं चमक उठता।

स्पन्दन का अर्थ होता है जरा भर चञ्चल हो जाना, तो

तात्पर्य उसका यह है कि परमेश्वर अपने विश्वोत्तीर्ण चिन्मात्र स्वरूप से जरा भर भी कभी विचलित नहीं होता, परन्त अपनी परमश्वरता रूपा कला के प्रयोग से ऐसा प्रकट करता है कि मानो वह विचलित होकर, परिमित ईश्वर के, जीवों के, अन्तःकरणों आदि के और जड जगत के रूप में परिणत हो गया हो। तो अचलता के भीतर भी जो ऐसा चलता का आभास-मात्र प्रतिबिम्ब-न्याय से होता है, उसे सिद्धों की दर्शनविद्या में स्पन्द कहा गया है। उस स्पन्दात्मक गतिशीलता से ही समस्त प्रपञ्च के सृष्टि, संहार आदि के खेल अभिव्यक्त होते रहते हैं। परमेश्वर के इस स्पन्दात्मक स्वभाव को शक्ति कहते हैं। इस स्वभाव की वहिर्मुखी अभिव्यक्ति के भीतर परमेश्वर विश्वात्मकतया प्रकट होते रहते हैं। ऐसे प्रकट होते रहना ही परमेश्वर की शक्ति-रूपता है। उस शक्ति-रूपता में प्रकट होने का बीज स्वात्म-विमर्श है, क्योंकि परमेश्वर ऊपरोक्त दृष्टान्त के अनुसार अपने परमेश्वरतात्मक स्वभाव का विमर्शन करता हुआ ही विश्वात्मकता के खेल को खेला करता है। इस कारण शक्तितत्त्व के रूप में स्वात्म-परमेश्वर की स्तुति करते हुए उसे 'विमर्शाय' कहा गया। यह स्वस्वभाव-विमर्श परमेश्वर को स्पन्दन शील बनाए रखता है और स्पन्दन-शीलता स्वात्म-आनन्द की लहरों के झक-झोर के रूप में प्रकट होती हुई विश्वसृष्टि का खेल खेलती है। इसी विचार से कारिका में शक्तितत्त्व की स्तुति करते हुए उसे "विशालोल्लोललोलाय" और "निजानन्दोर्मिमालिने" ऐसा कहा गया है। उस विमर्श-मूला पारमेश्वरी क्रीडा में उसकी परा-शक्ति अनन्त प्रकार के वैचित्र्यों को लेकर के असंख्य प्रकारों

के प्रमाताओं, प्रमेयों और प्रमाणों के रूप में प्रकट हुआ करती है। अतः उस विमर्शरूपिणी शक्ति को "विलक्षणस्वरूपाय" कहा गया।

पारमेश्वरी लीला जब बहिर्मुखतया अभिव्यक्त होने लग जाती है तो अपने भीतर 'अहन्ता" के रूप में अभेद-भाव से विद्यमान जगत को "इदन्ता" के रूप में भेद-भाव से प्रकट करने लगती है। उससे "अहं' के भीतर ही "इदं" का आभास प्रतिबिम्बन्याय से होने लगता है। फलतः "अहं" और "इदं" दो अंश अभिव्यक्त होते हैं। तो इस तरह से भेद का आभास हो जाता है। परन्तु प्रारम्भ में 'अहं' के अंश के भीतर ही "इद" का अंश चमकने लगता है तो दोनों में परस्पर अभेद भी बना ही रहता है। इस भेदाभेदमयी स्थिति को विद्या—दशा कहते हैं। इससे पूर्व की सर्वथा अभेदमयी स्थिति शक्ति-दशा कहलाती है। शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व अभेदमयी स्थिति के दो तत्त्व हैं। इस भेदाभेदमयी स्थिति में तीन तत्वों को सिद्धों की परम्परा में ठहराया गया है। एक वह स्थिति है जहां "अहं" के भीतर "इदं" का धीमा सा आभास होने लगता है। उस स्थिति में ठहरे हुए प्रमातृ-प्रमेय-भाव को सद-शिवतत्त्व कहते हैं। दूसरी स्थिति वह है जहां 'इदं" अंश इतना स्फुट चमक उठता है कि "अहं" अश को कुछ फीका सा कर देता है। ऐसी स्थिति को ईश्वर-तत्त्व कहते हैं। फिर इन तत्त्वों के भीतर ठहरे हुए प्रमाताओं के भेदाभेदमय दृष्टिकोण को शुद्ध-विद्या-तत्त्व कहा जाता है। इन तीन तत्वों में से सदाशिव-तत्त्व

की स्तुति आठवी कारिका के द्वारा की जा रही है—

समाच्छाद्येदंस्फुरत्तामहन्तास्फुरणात्मना ।
सदाशिवसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु मे ॥८॥

इदंभाव की स्फुरत्ता को अहंभाव की स्फुरत्ता के भीतर छिपाकर ठहरे हुए सदाशिव संज्ञा वाले मुझ शिव को प्रणाम हो।

चेतना के प्रकाश के विमर्शात्मक स्पन्दन को स्फुरत्ता कहते हैं। बहिर्मुखी लीला के विलास में जब परमेश्वर स्वात्मस्वरूप जगत् को प्रतिबिम्बन्याय से भिन्नरूपतया प्रकट करने के प्रति उन्मुख हो जाते हैं तो विश्वसृष्टि की इच्छा वेग से स्पन्दन करने लग जाती है। उसके प्रारम्भिक स्पन्दन की अवस्था में शुद्ध चिदात्मक पारमेश्वर अहं के विमर्श के भीतर "इदं" के विमर्श की छाया जैसी झलकने लग जाती है और संवित् इस तरह से विमर्श करती है कि "अहम् इदम्" अर्थात् मैं यह प्रमेय अंश हूं। इस विमर्श में "अहं" उद्देश है और 'इदं' विधेय है। 'अहं' सिद्ध है और 'इदं' साध्य है। अतः 'अहं' प्रधान है और 'इदं' गौण है। विश्वविकास की ऐसी स्थिति को सदाशिव-तत्त्व कहते हैं। इस स्थिति में ठहरे हुए प्रमातृगण सिद्धों की परिभाषा में मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं। उनके उपास्य और अधिष्ठातृस्वरूप देवाधिदेव भगवान् सदाशिव भट्टारक हैं। स्वयं परमशिव ही इस दशा पर उतर कर सदाशिव के रूप में प्रकट हो जाते हैं।

इस दशा से ऊपर शिवतत्त्व और शक्ति तत्त्व की स्थिति में

ठहरे हुए प्रमाता अकल कहलाते हैं। उनके दो अवान्तर वर्ग माने गए हैं और वे हैं शाम्भव और शाक्त। उनके अधिष्ठातृ देवाधिदेव भगवान शिव और भगवती शक्ति हैं। ऐसी धारणा शैवयोग की साधना के अनुसार सिद्धों ने ठहराई है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर उन दो तत्त्वों में भेद का आभास ही नहीं होता है। परन्तु उस सर्वथा अभेद की स्थिति पर रूढ होने के लिए जिन धारणाओं का अभ्यास परिमित योगी को करना होता है उन के अनुसार ऊपरोक्त व्यवस्था ठहराई गई है। इसी लिए दर्शन शास्त्रों और उत्कृष्ट योगशास्त्रों में अकल प्राणी को शिव ही कहा गया है।

आत्मसाक्षात्कारी शिवयोगी को सभी तत्त्व आत्मस्वरूप ही दीखते हैं। इस लिए स्तोत्रकार आचार्य महोदय इस श्लोक के द्वारा स्वात्मस्वरूप सदाशिव तत्त्व को नमस्कार करते हैं।

अगले श्लोक के द्वारा इसी तरह से चतुर्थ तत्त्व को अर्थात् ईश्वर तत्त्व को प्रणाम किया जा रहा है—

अहन्तयेदमावृत्य स्वात्मन्यङ्कुरितं जगत् ।
अहम्बोधसमर्थाय नम ईश्वररूपिणे ॥६॥

अहन्ता के द्वारा इदन्ता को घेरने के अनन्तर अपने (अहन्ता के) भीतर इदन्तास्वरूप जगत् को स्फुटतया अङ्कुरित करके (भी) उसे अहन्तात्मक बोध में ही चमका देने में समर्थ ईश्वतत्त्व स्वरूप मुझ को नमस्कार हो।

सदाशिव दशा में "इदं" रूपी जगत की धीमी सी झलक चमक उठती है, परन्तु विश्वविकास की अगली सीढ़ी पर वह "इदं" रूप सामान्याकार जगत् स्फुटतया चमकने लगता है । सदाशिव दशा में वह अंकुरित होता हुआ चमकता है । परन्तु ईश्वर दशा में स्फुटतया "अंकुरित हुआ है" ऐसा चमकने लग जाता है । फिर भी अहन्ता से सर्वथा भिन्न नहीं होता है । स्फुट चमकते हुऐ भी उसे अहन्ता के साथ अभिन्नतया जाना जाता है । विश्वविकास की ऐसी स्थिति को ईश्वरदशा कहते है । यही दशा सिद्धों की भाषा में ईश्वर-तत्त्व कहलाती है । इस दशा में ठहरे हुए प्राणी इस प्रकार से विमर्श करते हैं कि "इदम् अहम्" अर्थात् यह स्फुट प्रतीयमान प्रमेय जगत मैं हूं । यहां इदंरूप सामान्याकार जगत ही उद्देश बनता है और अहं रूप प्रमाता गौण रूप से उस पर आरुढ सा हो जाता है । इस प्रकार से स्वात्म विमर्शन करने वाले इस तत्त्व के प्राणी सिद्धों की परिभाषा के अनुसार मन्त्रेश्वर कहलाते हैं । मन्त्रेश्वरों के उपास्य देवाधिदेव तथा ईश्वरतत्त्व पर प्रशासन करने वाले अधिकारी भगवान् ईश्वर-भट्टारक कहलाते हैं । ईश्वरता तभी स्फुट हो सकती है जब ईशनीय स्फुट हो । ईशनीय जगत् इसी अवस्था में सामान्याकार से स्फुट हो जाता है । अतः इसी दशा पर उतरे हुए परमशिव ईश्वर कहलाते हैं । सदाशिव भट्टारक और शिव भट्टारक तथा पराशक्ति ऐश्वर्य के होते हुए भी ईश्वर नहीं कहलाते, क्योंकि उन अवस्थाओं में ईशनीय "इदं" रूप जगत् स्फुट-तया चमकता ही नहीं । ये ईश्वरभट्टारक ही विश्वविकास की अगली सीढ़ियों पर उतर कर ईश्वरता के व्यवहार को अधिक-अधिक

स्फुटता से अभिव्यक्त करते रहते हैं । उन अवतारस्वरूपों में से विशेष महत्त्व के अधिकारी भगवान् अनन्तनाथ, श्रीकण्ठनाथ, उमापतिनाथ आदि हैं । उनका परिचय आगे दिया जाएगा ।

मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर जिस भेदाभेदमय दृष्टिकोण को लेकर के विमर्श करते हैं उसे शुद्धविद्या कहते हैं । यह सैद्ध दर्शन का पांचवां तत्त्व है जिस के रूप में ठहरे हुए आत्मदेव को अगली कारिका के द्वारा प्रणाम किया जा रहा है –

अहन्तेदन्तयोर्भेदं प्रोल्लसन्तमपि स्फुटम् ।
ऐक्यं समापादयन्त्यै विद्यायै मे नमो नमः ॥१०॥

अहन्ता और इदन्ता के बीच में स्फुटतया चमकते हुए पारस्परिक भेद को अभेद भूमिका पर ही पहुंचाती हुई विद्या के रूप में ठहरे हुए मुझ को प्रणाम हो ।

जैसे हमारे विषयविमर्श के साधन हमारे अन्तःकरण होते हैं, वैसे ही मन्त्रेश्वरों और मन्त्रमहेश्वरों के विमर्श का साधन उनका भेदाभेदमय दृष्टिकोण होता है । वे प्रमाता होते हैं, "इदं" रूप सामान्याकार जगत उनका प्रमेय होता है और भेदाभेदमयी दृष्टि उनका करण स्थानीय साधन होता है । सर्वथा अभेद की दशा में एक मात्र "अहं" का ही प्रकाश हो सकता है । "अहं" और "इदं" इन दो अंशों का प्रकाश होना ही भेद को जतलाता है । तो इस दशा में भेद तो चमकता है । परन्तु प्रमाता इस भेद को भी अभेद दृष्टि से देखते हुए ऐसा विमर्श करता है कि 'मैं यह हूं' या "यह

मैं हूं"। इस भेदाभेदमयी दशा को विद्या दशा कहते हैं। सदाशिव ईश्वर और शुद्ध-विद्या इस विद्यादशा के तीन तत्त्व हैं। शिव और शक्ति तत्त्वों की अभेदमयी दशा को शक्तिदशा कहते हैं, क्योंकि 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' एक ही वस्तु के दो नाम होते हैं। शिव और शक्ति ये भी एक ही परतत्त्व के दो नाम हैं। इस विद्या दशा के ऊपरी स्तर पर भगवान् सदाशिव का अधिकार है, मध्यम स्तर पर भगवान् ईश्वर अधिकारी हैं और इसके निम्न स्तर पर भगवान् ईश्वर ही जब उतर आते हैं तो वहां पर वे भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं। उस तृतीय स्तर की शुद्ध विद्या को सिद्धों की परम्परा में महामाया कहा जाता है।

ग्यारहवीं कारिका के द्वारा माया के रूप में आत्मदेव को प्रणाम किया जा रहा है।

विश्वमात्माभिन्नमपि भिन्नरूपतया यया।
प्रतीयते सदा तस्यै मायायै नतिरस्तु मे ॥११॥

अपने आप से अभिन्न विश्व जिसके द्वारा सदा भिन्नरूपतया प्रतीत होता है उस माया रूपी मुझ को प्रणाम हो।

समस्त प्रपञ्च संवित्स्वरूप आत्मदेव ही है। फिर विद्या दशा में भिन्न होता हुआ भी यह आत्मस्वरूप अहं से अभिन्न ही है। परन्तु विश्वविकास की अगली सीढ़ी में वही आत्म से अभिन्न इदं-स्वरूप विश्व अपने से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। उस अवस्था में प्रमाता को ऐसा विमर्श होता है कि "अहम् अहम्, इदम् इदम्"

अर्थात् मैं मैं हूं और यह यह है । इस सर्वथा भेद की दशा को माया कहते हैं। सिद्ध सम्प्रदाय में माया शब्द को तीन प्रकार से समझा जाता है—(१) माया परमेश्वर की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह भेद को भी प्रकट करता है और अपने से अभिन्न विश्व को अपने से भिन्न रूपता में ठहराता है। उससे प्रमाता और प्रमेय दो सर्वथा भिन्न पदार्थों के रूप में भासते हैं। प्रमाता अहं के रूप में और प्रमेय इदं के रूप में अलग अलग ठहरे हुए प्रकट हो जाते हैं। (२) माया एक आवरण है जो प्रमाता के स्वरूप को आवृत करता है। प्रमाता वह शुद्ध और असीम संवित् अर्थात् चैतन्य है जिसका स्वभाव परमेश्वरता है। परन्तु माया उस के उस स्वरूप को भी छिपा देती है और उस स्वभाव को भी। माया की दशा के भीतर घिरा हुआ प्रमाता एक वैयक्तिक और सीमित संवित् को 'अहं' अर्थात् अपना आप समझ बैठता है और अपने को परमेश्वर न समझता हुआ अल्पज्ञ और अल्पशक्ति प्राणी समझता है। माया के ये दो रूप हैं। (३) इसका तीसरा रूप है वह जड "इदं"-तत्त्व जो सभी अगले जड तत्त्वों का उपादान कारण बनता है और जिसमें से काल कला आदि जड तत्त्वों की सृष्टि होती है। इस तरह से मूलतः माया परमेश्वर की अपनी ही शक्ति है और उसका बहिर्मुख विकास है। वह परमेश्वररूपी परब्रह्म से भिन्न उसकी उपाधि नहीं है। वैसा मानना द्वैत है। अतः सिद्ध परम्परा में वैसा नहीं सिखाया जाता। माया के आवरण में आया हुआ प्रमाता अणु कहलाता है। इसे पशु भी कहते हैं।

भगवान ईश्वर भट्टारक महामाया के स्तर पर उतर कर वहां

भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं । इस स्तर पर ठहरे हुए प्राणी शुद्ध और असीम संवित् को ही अपना आप समझते हैं और उन्हें अपनी परमेश्वरता की भी अनुभूति बनी रहती है । वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होते हैं । परन्तु फिर भी समस्त विश्व को भेद दृष्टि से देखते रहते हैं । उन्हें सिद्धों की परिभाषा के अनुसार मन्त्रप्राणी या विद्येश्वर प्राणी कहते हैं । उनके उपास्यदेव और अधीश्वर भगवान् अनन्तनाथ हैं जिन्हें अघोरेश भी कहते हैं । ये भगवान अनन्तनाथ देखते हैं कि माया में घिरे हुए प्राणी अपने परिपूर्ण स्वभाव को खो गए हैं । वे अपने आप को अपूर्ण समझते हैं और उस अपूर्णता को भरने अर्थात पूरा करने के लिए विषय भोगों के लिए लोलुप हैं । फिर वे यह भी देखते हैं कि उनकी भोग-लोलुपता तब तक तुष्ट नहीं हो सकती है जब तक उनके पास, कर्तृत्व सामर्थ्य, ज्ञातृत्व-सामर्थ्य आदि न हों । उनके ऐसे सामर्थ्य परिपूर्ण न होकर अत्यन्त परिमित होते हैं । अतः वे जड तत्वो में गिने जा सकते हैं । इस लिए उन जड तत्त्वों की सृष्टि के लिए भगवान् अनन्तनाथ अपनी इच्छा शक्ति के बल से माया तत्व के भीतर ऐसा प्रक्षोभ उत्पन्न करते हैं जिससे उस में से उन जड तत्त्वों की सृष्टि हो जाती है जिनके घेरे में आ चुकने पर प्रमाता में परिमित भोग की सामर्थ्य आ जाती है । उन तत्त्वों को कञ्चुक तत्त्व कहते हैं । कञ्चुक का अर्थ होता है चोला । इन कञ्चुक तत्त्वों के चोले के भीतर आया हुआ सवित् स्वरूप प्रमाता जीव या पुरुष कहलाता है, और इसके प्रमेय रूपी इदं' को प्रकृति कहते हैं । प्रकृति तक की सृष्टि को भगवान् अनन्तनाथ करते हैं । अगली कारिका द्वारा काल नाम के

कञ्चुक तत्व के रूप में ठहरे हुए आत्मदेव को प्रणाम किया जा रहा है।

अनुक्रमेण भावानां कलनं येन जायते ।
तस्मै कालसमाख्याय शिवाय गुरवे नमः ॥१२॥

उस काल नाम वाले गुरुदेव स्वरूप भगवान शिव को प्रणाम हो जिसके द्वारा भावों की कलना क्रम से हुआ करती है।

कलना सिद्ध सम्प्रदाय में कई एक प्रकार से मानी गई है। जैसे (१) वस्तु को अपने से भिन्न-रूपतया ठहराना, (२) उसे निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा चमकाना, (३) विकल्पज्ञान के द्वारा उस का विमर्शन करना, (४) प्रमा की अवस्था पर पहुंचाते हुए उसे अपने साथ अभिन्नतया ठहराना, (५) उसे भोग का विषय बनाना, इत्यादि। भावों की ऐसी कलना क्रम से ही हुआ करती है। अभिन्न संवित्तत्त्व में वस्तुतः कोई क्रम नहीं। वह तो युगपत् सर्वात्मक है। तो भगवान् अनन्तनाथ अपनी काल शक्ति को बहिर्मुखतया प्रकट करते हुए प्रतिबिम्ब न्याय से क्रम का अवभासन करते हैं। वह क्रमिकता ही काल है। संवित् स्वरूप प्रमाता सर्वथा अभिन्न है और अकाल-कलित है। परन्तु माया के घेरे में आकर ज्यों ही वह सकुचित हो जाता है तो अपने को औरों से भिन्न समझता हुआ अपने साथ सभी के सम्बन्ध की कल्पना करता है। वह सम्बन्ध की कल्पना देश-क्रम से भी होती है और कालक्रम से भी। आकार-वैचित्र्य को लेकर के दैशिक क्रम की प्रतीति होने लगती है और क्रिया-वैचित्र्य को

लेकर के कालिक क्रम का आभास होता है। उठना, बैठना, आना, जाना, खाना, पीना, सोना, जागना सब कुछ एक अविच्छिन्न परम्परा से होता है। परन्तु उस परम्परा का क्रम नियत नहीं होता। उसके विपरीत सूर्योदय, सूर्यास्त, सूर्य का राशि संक्रमण और लग्न-संक्रमण, तथा चन्द्रमा की गति आदि क्रियाओं का क्रम नियत क्रम होता है। उस नियत क्रम से प्रमाता अपनी अनियत क्रम वाली क्रियाओं को मापता हुआ ही कालिक व्यवहार को करता रहता है। फिर आत्मा अखण्ड है, क्रम-रहित है, क्योंकि परिपूर्ण है। परन्तु माया के घेरे में आने पर अपनी अखण्ड सत्ता को भूल जाता है और परिमितता के आरोप के प्रभाव से अपने ऊपर क्रमरूपता का भी आरोप करता हुआ ऐसा विमर्श करता है कि मैं था, मैं हूं, मैं होऊंगा", इत्यादि। इस तरह से अपने ऊपर क्रमरूपता की कलना का आरोप करता हुआ स्वयं कालकलित हो जाता है। फिर अपने साथ सम्बद्ध भावों पर भी क्रमरूपता का आरोप करता हुआ ऐसा विमर्श करता रहता है कि—"अमुक वस्तु थी, अमुक है, अमुक होगी" इत्यादि। यह काल कलना प्राणी पर इतनी रूढ हो जाती है कि किसी भी क्रिया को, यहां तक कि अपनी सत्ता को भी, कालिक क्रम का विषय न बनाते हुए कभी उनका विमर्शन करता ही नहीं। इसी कारण से क्रिया पद कभी कालकलना से रहित होता ही नहीं, किसी भी भाषा में भी। यह रूढ बनी हुई क्रम-रूपता की कल्पना ही सिद्धों के दर्शन का कालतत्त्व है। इस का स्रोत परमेश्वर की कालशक्ति है।

माया अणु के ऐश्वर्य का अपहरण करके थोड़ा-थोड़ा काम चलाने के लिए उसे थोड़ी थोड़ी शक्तियां दे भी देती है, जिनके द्वारा वह

विषयों का भोग कर सकता है। उनमें से दो शक्तियां हैं ज्ञान और क्रिया की शक्तियां। माया अणु को कुछ कुछ थोड़ा थोड़ा करने की शक्ति दे रखती है। उसे जीव की कला कहते हैं। करना जाने बिना सम्भव नहीं, अतः माया उसे कुछ कुछ थोड़ा थोड़ा जानने की सामर्थ्य भी दे देती है। उस सामर्थ्य को अशुद्ध-विद्या कहते हैं। ये अणु के और दो कञ्चुक हैं जिनकी सृष्टि माया तत्त्व में से भगवान् अनन्तनाथ की प्रेरणा से हुआ करती है। इनमें से कला के रूप में परमेश्वर को इस तेरहवीं कारिका से प्रणाम किया जा रहा है—

ईषत् कार्येषु कर्तृत्वमणवे येन दीयते।
नमस्तस्मै कलाख्याय शिवाय परमात्मने ॥१३॥

जिस तत्त्व द्वारा अणु को कार्यों के प्रति थोड़ा सा करने की सामर्थ्य दी जाती है उस कला तत्त्वस्वरूप परमेश्वर शिव को हमारा प्रणाम हो।

शिवभाव में आत्मा में सर्वकर्तृत्व शक्ति है, परन्तु अणुभाव में आने पर वह अल्पकर्ता बन कर कुछ ही कर सकता है, सब कुछ कर नहीं सकता। उसका यह स्वल्पकर्तृत्व का सामर्थ्य कला-तत्त्व है और है वस्तुतः यह भी शिवरूप ही। तो इस रूप में भी ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है। मायीय प्रमाता की कला और विद्या के क्षेत्र को बहुत अधिक सङ्कुचित करने वाला जो कञ्चुक तत्त्व है उसे नियति कहते हैं। नियति इस संसार में प्रकृति के

नियमों के रूप में प्रकट होती है। सारे के सारे मायीय कार्य-कारण-भाव के नियमों को ठहराने वाली यह नियति ही है। इसी कञ्चुक से घेरे हुए मायीय प्रमाता प्रत्येक उस उस वस्तु को जान नहीं सकते जिसे जिसे वे जानना चाहें; न ही उस उस क्रिया को कर सकते हैं जिसे जिसे वे करना चाहें। फिर उपादान, सहकारी आदि कारणों के विना कुछ भी कर नहीं सकते और कुछ भी जान नहीं सकते। नियति के नियम से बद्ध होने के ही कारण जीवों को अपने कर्मों के फलों को भोगना पड़ता है और इस संसारचक्र में लगातार घूमना पड़ता है। यह नियति भी काल और कला की तरह माया का ही एक बहिर्मुख विस्तार है। वह माया परमेश्वर की अपनी शक्ति है और उससे वस्तुतः अभिन्न है। अतः नियति भी परमेश्वर का ही एक विशेष रूप है। अतः इस के रूप में स्तोत्रकार परमेश्वर को ही इस अगली कारिका के द्वारा प्रणाम करते हैं–

कृत्याकृत्यतया येन कृत्यजातं नियम्यते।
तस्मै नियतिरूपाय शिवाय नमनं मम ॥१४॥

कर्म-समूहों के विषय में जिस तत्त्व के द्वारा यह नियम ठहराया जाता है कि अमुक कर्म करने के योग्य है और अमुक कर्म करने के योग्य नहीं है, उस नियतितत्त्व-रूपी शिव को हमारा प्रणाम हो।

कृत्य विहित कर्म को अर्थात् पुण्य कर्म को कहते हैं और अकृत्य निषिद्ध कर्म को अर्थात् पापकर्म को कहते हैं। तात्त्विक

दृष्टि से देखा जाए तो सब कुछ शिव ही है। परन्तु शिव अपनी परमेश्वरता की लीला के भीतर माया दशा का विकास करते हुए नियति की सृष्टि करते हैं। वह नियति माया के क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कर्म का नियमन जब करती है तो कर्मफल-भोग का नियम भी विकास को प्राप्त होता है। उसके फलस्वरूप कोई कर्म कृत्य बन जाता है और कोई अकृत्य।

अणु किसी किसी काम को कर सकता है और किसी किसी विषय को जान सकता है। परन्तु वह प्रत्येक ऐसे विषय में प्रवृत्त नहीं हुआ करता है। उसी विषय को जानने में और उसी क्रिया को करने में प्रवृत्त होता है जिसके प्रति उसे बड़ी दिलचस्पी होती है, जिसे वह बहुत ही गुणशील और महिमायुक्त समझता है। इस तरह से अणु किन्हीं किन्हीं ज्ञेय और कार्य विषयों पर गुणारोपण करता हुआ उनके प्रति एक विशेष प्रकार के अभिष्वङ्ग को अपनाता है। ऐसा अभिष्वङ्ग रागतत्त्व कहलाता है जो अणु की कला और विद्या के क्षेत्र को और भी सीमित कर देता है। उस राग-तत्त्व नामक कञ्चुक के रूप में ठहरे हुए आत्मपरमेश्वर को अगली कारिका के द्वारा प्रणाम किया जा रहा है—

येन प्रीतिरणोः कस्मिन्नेकास्मिन्नेव वस्तुनि ।
जायते शिवरूपाय तस्मै रागाय मे नतिः ॥१५॥

जिस तत्त्व के प्रभाव से अणु को किसी ही वस्तु के प्रति प्रीति हुआ करती है उस शिवात्मक रागतत्त्व के रूप में मुझे

प्रणाम हो ।

वैराग्य का विरोधी राग और वस्तु है और रागतत्त्व और वस्तु है। वैराग्य का विरोधी राग बुद्धि का एक धर्म (अवैराग्य) होता है । राग-तत्त्व कला और विद्या आदि की तरह अणु की एक अन्तरङ्ग विशेषता है, बुद्धि की सृष्टि से ऊपर भी यह तत्त्व पुरुष का एक अन्तरङ्ग तत्त्व बना रहता है । किसी प्राणी को अवैराग्य के प्रति और किसी को वैराग्य के प्रति अभिष्वङ्ग रूपी राग हुआ करता है । जीर्ण पुरुष को सुन्दर युवती के प्रति बुद्धिधर्म रूपी राग तो होता ही नहीं, परन्तु रागतत्त्व रूपी राग उसे भी उसके प्रति हुआ ही करता है जिसके कारण वह ललना-सौन्दर्य की महिमा को अवश्य मानता है, उसमें विशेष गुणशीलता को देखता हुआ उसकी प्रशंसा करता है। तभी तो शङ्कराचार्य जैसे अतिविरक्त योगिराज ने सौन्दर्यलहरी में ललना-सौन्दर्य की बड़ी ही प्रशंसा अभिव्यक्त की है और बड़े शौक से उसका खूब वर्णन किया है । यह रागतत्त्व के संस्कार का प्रभाव है ।

सोलहवीं कारिका के द्वारा अणु की अशुद्धविद्या को प्रणाम किया जा रहा है —

किञ्चिज्ज्ञातुं समर्थं यः करोत्यज्ञमणुं किल ।
तस्मा अशुद्धविद्याख्यशिवाय नमनं मम ॥१६॥

जो कञ्चुकतत्त्व अज्ञ अणु प्रमाता को कुछ कुछ जान सकने की सामर्थ्य देता है उस अशुद्ध-विद्या तत्त्व नामक शिव को मेरा प्रणाम हो ।

यह बताया गया कि माया अणु की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को लूट लेती है। यह भी कहा गया कि भोगवासना की लोलुपता को तृप्त करने के लिए उसे थोड़ा थोड़ा जान सकने की सामर्थ्य दे भी देती है। अणु की उस क्षुद्र सामर्थ्य को अशुद्ध विद्या कहा जाता है।

माया के समेत काल कला आदि कञ्चुक छः होते हैं। पांच कञ्चुक वस्तुतः माया का ही विस्तार हैं। इन पांच की सृष्टि के भिन्न भिन्न क्रम माने गए हैं। आ० अभिनवगुप्त के विचार में भिन्न भिन्न पुरुषों के कञ्चुकों के आविर्भाव का क्रम भिन्न भिन्न भी हो सकता है। पूज्यपाद आचार्य महोदय ने जैसा हमें एक बार कहा था तदनुसार जैसे मुट्ठी को झट खोल देने पर एक साथ ही पांचों अङ्गुलियां अपनी अपनी दिशा में पृथक् पृथक् स्थान ग्रहण करती हैं वैसे ही पांचों कञ्चुकों का विस्तार एक साथ ही हो जाता है। ज्यों ही भगवान् अनन्तनाथ माया को प्रक्षुब्ध करते हैं त्यों ही वह एक साथ पांच कञ्चुकों के रूप में विकास को प्राप्त होती हुई अणु प्रमाता को घेर लेती है। तब वह अणु प्रमाता पुरुष-तत्त्व कहलाता है। उस पुरुष-तत्त्व के रूपमें विलसन-शील शिव को सत्रहवीं कारिका के द्वारा प्रणाम किया जा रहा है—

मायायात्माऽभिन्नयव स्वसामर्थ्यं पिधाय तु।
पुरुषाख्यामश्नुवानं शिवं वन्दे विलासिनम् ॥१७॥

अपने से अभिन्न होती हुई ही जो माया है उस से अपनी

सर्वज्ञता (आदि) को छिपाकर अपने को पुरुष कहलाने वाले विलसनशील शिव को हम प्रणाम करते हैं।

सार्वज्ञ शब्द उपलक्षण है। तात्पर्य है सर्वज्ञता आदि पारमेश्वरी स्वभाव। माया शिव की स्वभावभूत शक्ति है। उससे भिन्न नहीं है। जो हठ करते हुए तर्क के बल से उसे ब्रह्म से भिन्न मानते और मनवाते हैं, वे सच्चे अद्वैतवादी नहीं। सच्चे अद्वैतवादी तो वे सिद्धजन ही हैं जिन्हों ने अपनी अनुभूति के आधार पर माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में देखा और तदनुसार ही उसका उपदेश, प्रतिपादन, व्याख्यान आदि किया। मायारूपिणी अपनी ही तिरोधान-शक्ति से जब परमेश्वर अपने ऐश्वर्ययुक्त स्वभाव को खेल खेल में छिपा देता है तो उस लीला के भीतर वह छः कञ्चुकों से घिरे हुए पुरुषतत्त्व के रूप में प्रकट हो जाता है। स्वयं माया ही उसका कञ्चुक बन कर उसकी असीमता को और अभिन्नता को छिपा देती है तो प्रमाता सीमित सा प्रकट होता हुआ भेददृष्टि से ही विमर्शन करने लग जाता है। असीम और अकाल-कलित नित्य होता हुआ भी अपने को काल-कलित रूप में ही जानने लग जाता है। अपनी नित्यता को छिपा कर भूतता, वर्तमानता और भविष्य-द्रूपता का पात्र बन जाता है। स्वतन्त्र होता हुआ भी नियति के अधीन हो जाता है। सर्वशक्तिमान् होता हुआ भी कुछ ही कर सकता है, परिपूर्ण होता हुआ भी विशेष भावों के साथ ही अभिष्वङ्ग रखने लगता है और सर्वज्ञ होता हुआ भी कुछ कुछ ही जान सकता है। यह सब मायात्मक कञ्चुक तत्त्वों का प्रभाव है। इन तत्त्वों से

वेष्टित अणु ही जीव या पशु या पुरुष या पुंस्तत्त्व कहलाता है। इस प्रकार से अत्यन्त पराधीनता की स्थिति में पुरुष बन कर प्रकट हो जाना शिव की लीला का विलास है। अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता को पहचान लेने में जो अत्यन्त अपूर्व चमत्कार है उसी के आस्वाद के लिए शिव अपने असली स्वरूप को और अपने वास्तविक स्वभाव को इन छः कञ्चुकों के द्वारा छिपा कर, अर्थात् उसे खेल खेल में भुला डालकर, पुरुषतत्त्व के रूप में प्रकट होता है। यह सब उसकी लीला का विलास है। यदि यह विलास उसका स्वभाव नहीं होता तो वह बौद्धों के शून्य-तत्त्व से जरा भर भी ऊपर नहीं उठा होता। ऐसा विलास ही उसकी परमेश्वरता और परब्रह्मता है जो उसका अपना नैसर्गिक स्वभाव है।

पुरुष का स्वरूप कञ्चुकों के घेरे से घिरी हुई और अत्यन्त सीमित बनी हुई संवित्, अर्थात चैतन्य है। सीमित होने के कारण पुरुष की शक्तियां भी सीमित हो जाती हैं। इसकी सीमित ज्ञान-शक्ति को सत्त्वगुण कहते हैं और सीमित क्रिया-शक्ति को रजोगुण कहते हैं। शिव की परिपूर्ण स्वातन्त्र्यरूपिणी परा माया शक्ति पुरुष में आकर उसका तमोगुण बन जाती है। सत्त्वगुण से इसे सुख होता है और ज्ञानप्रकाश होता है; तमोगुण से मोह, अज्ञान, शैथिल्य, आलस्य, अकर्मण्यता आदि विशेषताएं इस में प्रकट हो जाती हैं। रजोगुण दुःखात्मक है, इससे पुरुष प्रवृत्तिशील और प्रयत्नशील बनकर सदा परेशान रहता हुआ कुछ न कुछ यत्न करता ही रहता है। संक्षेप से इस के ये तीन गुण सुख, मोह और दुःख के रूप में इसे

घेरे रखते हैं। इन तीन गुणों के प्रभाव से पुरुष गुणमयी दृष्टि से देखता हुआ अपने प्रमेय तत्त्व रूपी 'इदम्' अंश को भी इन तीन गुणों के रूप में ही देखा करता है। तो वस्तुत: तीन गुण पहले तो पुरुषतत्त्व की विशेषताएं हैं और तदनन्तर उसकी कलना के द्वारा ये प्रमेय अंश रूपी "इदम्" तत्त्व की भी विशेषताएं बन जाती हैं। ऐसा मानना सिद्धों की दार्शनिक दृष्टि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अन्य सभी दर्शनों में तीन गुण मूलत: प्रकृति तत्त्व के गुण माने गए हैं और अज्ञान के कारण उनका आरोपमात्र पुरुष के ऊपर माना गया है। परन्तु ज्ञान, सुख, दु:ख आदि की संवेदना जड स्वरूप प्रकृतितत्त्व को नहीं हो सकती है। वह संवेदना पुरुष को ही हो सकती है। तभी तो एक ही प्राकृतिक वस्तु किसी के लिए सुखरूप, किसी के लिए दु:ख रूप और किसी के लिए मोहरूप बना करती है। जो पुरुष जिस दृष्टिकोण से उसे देखता है उस पुरुष के लिए वह वैसी ही बन जाती हुई संवेदन का विषय बनती है।

करणतत्त्वों और कार्यतत्त्वों की सृष्टि से पहले की अवस्था में प्रमाता रूपी पुरुष अर्थात् "अहं" अपने सामान्याकार "इदं" रूपी प्रमेय का विमर्शन त्रिगुणात्मिका दृष्टि से करने लगता है। उसके लिए वह प्रमेयतत्त्व तीन गुणों की साम्य अवस्था के रूप में ही प्रकट हो जाता है। उसी गुणसाम्य रूपी सामान्याकार प्रमेयतत्त्व को प्रकृतितत्त्व या प्रधानतत्त्व या मूलप्रकृति कहा जाता है। सांख्य शास्त्र में बताए हुए अन्य तेईस तत्त्व उसी में से प्रकट होते

हैं। उस प्रकृतितत्त्व का निरूपण अठारहवीं कारिका के द्वारा किया जा रहा है—

महदादिपृथिव्यन्त-तत्त्वोपादान-कारणम् ।
गुणत्रयोसाम्यरूपं प्रकृत्याख्यं शिवं नुमः ॥१८॥

महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक के समस्त तत्त्वों का उपादान कारण बने हुए और तीन गुणों के साम्य के रूप में ठहरे हुए प्रकृति तत्त्व नामक शिव को हमारा नमस्कार हो।

जिस वस्तु से कोई और वस्तु बनती है वह वस्तु उस बनने वाली वस्तु का उपादान कारण कहलाती है। सोने से विविध प्रकार के अलङ्कार बनते हैं। इस तरह से सोना अलङ्कारों का उपादान कारण बनता है। मूल प्रकृति भी इसी तरह से समस्त अन्तःकरणों, इन्द्रियों, सूक्ष्म प्रमेय तत्त्वों और स्थूल पञ्चभूत तत्त्वों का उपादान कारण बनती है। प्रकृति के तीन गुणों में विषमता के आ जाने पर ये करण-तत्त्व और प्रमेयतत्त्व विकास में आते हैं। वे सभी तेईस तत्त्व प्रकृति के परिणाम अर्थात् विकार होते हैं, जैसे विविध अलङ्कार स्वर्ण के विकार होते हैं, विविध वर्तन मिट्टी के विकार होते हैं और दही, मक्खन, घी आदि दूध के विकार होते हैं। ये विकार प्रकृति में तब आते हैं जब उसके तीण गुणों में विषमता आ जाए। वह विषमता तभी आ सकती है जब उसके भीतर प्रक्षोभ हो जाए। प्रकृति जड है। वह स्वयं अपने में प्रक्षोभ ला नहीं सकती है। न ही उसे यह विचार आ सकता है कि मुझे असंख्य बद्ध जीवों की भुक्ति और मुक्ति

के लिए अनुकूल वातावरण के रूप में परिणत हो जाना चाहिए, क्योंकि इस तरह से वही विचार कर सकता है जो चेतन हो। सांख्यशास्त्र में आने वाली इस अनुपपत्ति का निवारण सिद्ध जनों ने किया। उन्हों ने अपनी साक्षात् अनुभूति के आधार पर यह बताया कि मूलप्रकृति में से करणतत्त्वों और प्रमेयतत्त्वों की सृष्टि करने के लिए स्वयं ईश्वर भट्टारक गुणतत्त्व में अवतार रूप से प्रकट हो जाते हैं। वहां उनको भगवान् श्रीकण्ठ-नाथ कहते हैं। श्रीकण्ठनाथ कई एक दिव्यातिदिव्य शरीरों को लेकर के अनेकों रूपों में प्रकट होकर परमेश्वर के पञ्चकृत्यों की लीला को चलाया करते हैं। कैलासवासी शिव उनका ही एक विशेष शरीर है। उस शरीर में उन्हें भगवान उमापतिनाथ कहते हैं। भगवान् श्रीकण्ठनाथ के ही विशेष कर्मठ शरीर को उमापति-नाथ कहते हैं। वे ही इतिहासों और पुराणों के शिव हैं। भगवान् श्रीकण्ठनाथ बद्ध जीवों के कर्मफल-भोग के लिए और मोक्ष-साधना के लिए प्रपञ्च की सृष्टि करते हुए पहले पहल प्रकृति के भीतर प्रक्षोभ पैदा करते हैं जिससे तीन गुणों में विषमता के आ जाने से प्रकृति में परिणाम होता है। प्रकृति/पुरुष तक की सृष्टि को करने वाले भगवान् अनन्तनाथ हैं और प्रकृति में से तेईस तत्त्वों की सृष्टि को भगवान् श्रीकण्ठनाथ करते हैं। प्रकृति भी वस्तुतः शिव ही हैं, क्योंकि सब कुछ वे ही हैं। "अहं" भी वे ही हैं और "इदं" भी। वह इदं ही जब पुरुष रूपी प्रमाता का प्रमेय बनता हैं तो वह उसे तीन गुणों की समता के रूप में देखता है, क्योंकि उसकी दृक्शक्ति ही त्रिगुणात्मिका होती है। क्षोभ से पहले तीनों गुण समता की अवस्था

में एकरूपतया ठहरे हुए ही पुरुष के प्रमेय अर्थात् उसका "इदम्" बन कर आभासित होते हैं । वही त्रिगुणात्मक 'इदं' प्रकृतितत्त्व कहलाता है। सामान्यतया बहुतेरे दर्शनकारों की खोज यहीं पर विश्रान्त होती है। परन्तु तीव्र जिज्ञासु शैव सिद्ध परमशिव को इससे ऊपर वाले कञ्चुकों के रूप में भी और सर्वोपरि विद्यादशा के शुद्ध तत्त्वों के रूप में भी देखा करते हैं । उन तत्त्वों के रूप में भगवान् शिव की स्तुति पिछले श्लोकों के द्वारा की जा चुकी है।

प्रकृति में प्रक्षोभ के आने पर जब तीन गुणों में विषमता आने लगती है तो पहले पहल उसका एक सत्त्वगुण-प्रधान स्वरूप उसमें से उभर आता है । उस स्वरुप के ही भीतर अहङ्कार से लेकर के पृथ्वी तक के बाईस तत्त्व विद्यमान रहते हैं । अतः उसे महत्तत्त्व कहा जाता है । उसी महतत्त्व के रूप में स्वात्मरूप परमशिव की स्तुति इस उन्नीसवें श्लोक के द्वारा की जा रही है —

अहङ्कारादि-भूम्यन्तं वर्त्ततेऽत्रेति तन्महत् ।
ततो मे महदाख्याय शिवायैव महन्नमः ॥१६॥

अहंकार से लेकर पृथ्वीतत्त्व तक के सभी तत्त्व इसमें समाए रहते हैं और इसी कारण से इसे महत् कहते हैं । तो उस महत्तत्त्व नाम वाले मुझ शिव को ही बहुत बहुत प्रणाम हों ।

अन्य दर्शनकारों ने महत्तत्त्व को अध्यवसाय रूपी, अर्थात् नाम-रूप-निश्चय रूपी बुद्धि-तत्त्व के ही रूप में ठहराया है । परन्तु पूज्यपाद आचार्य महोदय को अपनी पितृ-परम्परा से जैसा उपदेश मिला था, और जैसी उनकी अपनी अनुभूति थी, तदनुसार

महत्तत्त्व वह सत्त्वगुण - प्रधान तत्त्व है जिसके भीतर समस्त प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले समस्त अन्तःकरण, बाह्यकरण, सूक्ष्म तन्मात्र और पञ्चभूत प्रक्षोभ की अवस्था में ठहरे रहते हैं। प्रकृति के उस प्रथम परिणाम को महत्तत्त्व कहते हैं । सम्भवतः ऐसी ही दृष्टि को लेकर के संस्कृत शास्त्रों के फारसी में अनुवाद करने वालों ने इस तत्त्व को "अकले कुल" ऐसा कहा है । तात्पर्य यह हो सकता है कि समस्त प्राणियों से सम्बद्ध बुद्धितत्त्वों के एक समष्टि-स्वरूप को महत्तत्त्व कहा जाना चाहिए । समस्त प्राणियों के अहङ्कारतत्त्व भी इसी के भीतर समाए रहते हैं जिन के प्रभाव से उन्हें जड वस्तु के प्रति अहन्ता का कल्पित आभास होने लगता है।

बीसवीं कारिका के द्वारा उस अहङ्कार तत्त्व के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है –

अहमेतन्ममेदं चेत्यभिमानस्य कारणम् ।
अहङ्कारसमाख्यातं वन्देऽहं शिवदैवतम् ॥२०॥

यह (जड पदार्थ) मैं हूं और यह मेरा है, इस प्रकार के अभिमान का कारण बनने वाले अहङ्कार नाम वाले परदेवतारूपी शिव को मैं प्रणाम कर रहा हूं ।

शुद्ध संवित् स्वरूप अहं तो शिव है, परन्तु किसी एक देह, बुद्धि, शून्य आदि जड पदार्थ को ही अहं समझते हुए उसी के प्रति अहन्ता का अभिमान होना, अर्थात् केवल उसी को अपना आप मानना, तथा उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों ही के साथ

"यह मेरा है", ऐसा मानना अहन्ता का और ममता का अभिमान कहलाता है। शुद्ध तथा असीम चिद्रूप होते हुए भी और समस्त अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का स्वामी होते हुए भी प्राणी एकमात्र क्षुद्र शरीर आदि को ही "अहं" मानता है और अत्यन्त अल्पपरिमाण वाले प्रमेयवर्ग को ही "मम" अर्थात् "मेरा" समझता रहता है। इस प्रकार से होने वाले उसके इस संकुचित अभिमान के मूल में जो तत्त्व है वह उसका अहङ्कार है; अर्थात् कल्पित अहंभावना है। अकल्पित 'अहं' तो शिव है। परन्तु यह कल्पित और कृत्रिम 'अहं' अहङ्कार है। अहङ्कार शब्द में विद्यमान 'कार' ऐसा शब्दांश "अहं" की इस कृत्रिमता को अर्थात् कल्पितता को जतलाता है। यह अहङ्कार प्रधान अन्तःकरण है। इसी के द्वारा पुरुष समस्त अभिमनन व्यवहार करता रहता है। सारा व्यवहार वस्तुतः एक ओर से इन्द्रियों और अन्तःकरणों के और दूसरी ओर से सूक्ष्म और स्थूल विषयों के बीच में शिव की इच्छा के आधार पर ठहरे हुए विधान से होता रहता है। परन्तु एक एक प्राणी अपने अहंकार तत्त्व के साथ सम्बन्ध रखने के कारण ऐसा अभिमनन करता रहता है कि अमुक कर्म करने वाल मैं हूं और अमुक पुण्य-पाप-कर्म मेरे हैं। यही अभिमनन उसे उन उन कर्मों के लिए जिम्मेवार बना देता है। अतः उसे उनके फलों को भोगना पड़ता है। सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से रहित पुरुष रूपी प्रमाता को भी माया से आवृत तथा अतीव संकुचित अणु रूप संवित् ही के प्रति अहन्ता का अभिमान बना रहता है, तथा समस्त प्राक्तन कर्मों की संस्कारात्मिका वासना के प्रति ममत्व का अभिमान होता ही है। यह

उसका अहंकार है।

इक्कीसवीं कारिका के द्वारा बुद्धिनामक अन्तःकरण रूपिणी शिवशक्ति को प्रणाम किया जा रहा है—

सत्त्वमुख्या विकल्पस्य प्रतिबिम्बं निर्भति या।
निश्चिनोति च या ज्ञानं वन्दे तां बुद्धिदेवताम् ॥२१॥

जो नाम-रूप-विकल्पात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को धारण करती है और विषयज्ञान को निश्चयात्मक स्थिति पर पहुंचा देती है उस सत्त्व-गुण-प्रधान बुद्धितत्त्वरूपिणी देवी को मैं प्रणाम कर रहा हूं।

इन्द्रियों के द्वार से विषयों का प्रतिबिम्ब भीतरीय करण रूपी बुद्धि पर पड़ जाता है। तदनन्तर वह अन्तःकरण उस विषय को लेकर के नाम रूपात्मक उस निश्चय रूप ज्ञान के रूप को धारण करता है जिसके विषय में प्रमाता को अभिमान होता है कि मैंने इस नील आदि या सुख आदि विषय को जाना। ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं। उसका रूप यह होता है कि "यह नील है", "यह सुख है" इत्यादि। उसीके विषय में आत्मा को अहंकार के द्वारा यह अभिमान होता है कि "मैं नील को या सुख को जानता हु" अथवा 'मुझ से नील या सुख जाना गया।" इत्यादि।

अन्य दर्शनकार अहंकार के साथ मन और बुद्धि दो और अन्तःकरणों को मानते हैं और वेदान्ती उनके साथ चित्त को जोड़

कर चार को मानते हैं। परन्तु जैसा कि पूज्यपाद आचार्य महोदय ने मुझ से स्वयं कहा है, उनके विचार में दो ही अन्तःकरण हैं; एक है अहङ्कार और दूसरा है बुद्धि। फिर उनके विचार में इन दोनों के दो दो पहलू हैं। एक एक है आत्मा के प्रति अभिमुख होकर ठहरने वाला और दूसरा दूसरा है विषय के प्रति अभिमुख होकर ठहरने वाला। तदनुसार अहङ्कार का ही बहिर्मुख पहलू चित्त है और आत्म-अभिमुखी बुद्धि का ही विषय-अभिमुख बहिर्मुखी पहलू मन कहलाता है। मन के पहलू द्वारा बुद्धि ही विषय के नामरूपों का मनन अर्थात सङ्कल्पन करती है और अन्तर्मुखी पहलू के द्वारा वही निश्चयात्मक विकल्पज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। बुद्धितत्त्व प्रकृति का एक सत्त्वगुण-प्रधान परिणाम होता है। तभी तो बुद्धि ज्ञानात्मक स्वरूप को धारण करती हुई पुरुष को विषय का ज्ञान कराती है। यह बुद्धि भी वस्तुतः शिव की एक शक्ति का ही प्रतिबिम्ब है। अतः इसे भी देवी मानते हुए प्रणा किया गया।

अब आगे शब्द आदि पांच तन्मात्र तत्वों को प्रणाम किया जा रहा है। तन्मात्र इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य सामान्याकार सूक्ष्म विषयों को कहते हैं। जैसे शब्दमात्र को शब्दतन्मात्र कहते हैं। कई एक दर्शनकारों ने तत्त्वसृष्टि के क्रम में बाह्य इन्द्रियों के अनन्तर तन्मात्रों को स्थान दिया है। परन्तु पूज्यपाद आचार्य महोदय इनकी सृष्टि को इन्द्रियसृष्टि से पहले मानते हैं। इस विषय में आ० अभिनवगुप्त ने यह स्पष्टीकरण किया है कि भिन्न भिन्न भुवनों में, भिन्न भिन्न ब्रह्माण्डों में तथा भिन्न भिन्न पुरुषों

के प्रति इन तत्त्वों की तथा ऊपर वाले कञ्चुक तत्त्वों की सृष्टि का क्रम भिन्न भिन्न भी हो सकता है। फिर उनका यह भी कहना है कि तत्त्वों का जितना अधिक विश्लेषण किया जाए, उतनी अधिक इन की संख्या बढ़ेगी और जितना अधिक इन का संश्लेषण किया जाए, उतनी अधिक इन की संख्या घटेगी। अस्तु। आगे बाईसवें श्लोक के द्वारा शब्दतन्मात्र के रूप में ठहरे शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

अन्तरा श्रोत्रकरणं जायते यस्य नो ग्रहः।
शब्दतन्मात्रमित्याख्यं नमामि शिवमद्भुतम् ॥२२॥

मैं उस अद्भुत शक्तिवाले शब्दतन्मात्र नामवाले शिव को प्रणाम करता हूं जिस का प्रत्यक्ष-ज्ञान श्रोत्र अर्थात श्रवणेन्द्रिय के उपयोग के विना नहीं हो सकता है।

सामान्याकार शब्दमात्र को शब्द तन्मात्र कहते हैं। शब्द के प्रकार बहुत होते हैं, सार्थक, निरर्थक, संयोगज, विभागज, शब्दज, वाक्य, पद, वर्ण, भाषाभेद, शब्दभेद, वर्णभेद इत्यादि। परन्तु शब्दतन्मात्र केवल सामान्याकार ध्वनिमात्र को कहते हैं। यह ध्वनि स्वर नहीं, व्यञ्जन नहीं, सार्थक या निरर्थक नहीं, केवल ध्वनिमात्र है और अत्यन्त सूक्ष्म है। इस का ज्ञान एकमात्र श्रोत्र-इन्द्रिय की सहायता से ही हो सकता है। इसी तरह से आगे स्पर्श तन्मात्र आदि को समझना चाहिए। शिव ही स्वयं इस तन्मात्र के रूप में ठहरा है।

तेईसवें श्लोक के द्वारा स्पर्शतन्मात्र के रूप में ठहरे हुए शिव

को प्रणाम किया जा रहा है —

**यस्य त्वगिन्द्रियाधीनं ग्रहणं सर्वसम्मतम् ।
स्पर्शतन्मात्रमित्याख्यं वन्देऽहं शिवदैवतम् ॥२३॥**

जिस के विषय में सभी यह मानते हैं कि इस का प्रत्यक्ष ज्ञान त्वक नामक इन्द्रिय के ही अधीन है, उस स्पर्शतन्मात्र नाम वाले शिवरूपी परदेवता को मैं प्रणाम करता हूं ।

सर्दी, गर्मी आदि, तथा कोमलता, कठोरता आदि, समस्त स्पर्शों का ज्ञान प्राणी को त्वचा से ही होता है । यह स्पर्शग्राही त्वगिन्द्रिय समस्त शरीर में विद्यमान है । इसके उपयोग के विना स्पर्श का ज्ञान नहीं होता है । फिर स्पर्श तन्मात्र न तो सर्दी को, न गर्मी को, न कठोरता को, न कोमलता को, न किसी अन्य विशेष स्पर्श को अपितु सामान्य स्पर्श मात्र को कहते हैं । स्पर्शतन्मात्र के रूप में भी स्वयं शिव ही ठहरा हुआ है । जिसे आचार्य महोदय प्रणाम कर रहे हैं ।

अगले श्लोक के द्वारा इसी तरह से रूपतन्मात्र के रूप में विलास करते हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

**चक्षुरिन्द्रियमात्रेण ज्ञानं यस्य हि जायते ।
रूपतन्मात्ररूपेण विलसन्तं शिवं नुमः ॥२४॥**

जिस का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल चक्षुरिन्द्रिय से ही हुआ करता है

उस रूपतन्मात्र के रूप में ठहरते हुए विलासशील शिव को प्रणाम हो।

सूक्ष्म रूपमात्र को रूपतन्मात्र कहते हैं। तन्मात्र की अवस्था में रूप की शुक्ल, नील आदि या सुन्दर, असुन्दर आदि, या वितत अवितत आदि विशेषताएं प्रकट होती ही नहीं। उस रूपतन्मात्र का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल चक्षुरिन्द्रिय ही के द्वारा हुआ करता है। विलासशील शिव ही रूपतन्मात्र के रूप में प्रकट हो रहा है। अत: इस रूप में भी शिव को ही प्रणाम हो।

पच्चीसवें पद्य के द्वारा रसतन्मात्र रूपी शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

रसनेंद्रियविज्ञेयं निजमायाप्रभावत: ।
रसतन्मात्रमित्याख्यं शिवमेव नमाम्यहम् ॥२५॥

शिव की अपनी माया-शक्ति के प्रभाव से जिस का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल रसना नामक इन्द्रिय के ही द्वारा हो सकता है, उस रसतन्मात्र नाम वाले शिव को ही मैं प्रणाम कर रहा हूं।

किस तन्मात्र का प्रत्यक्ष ज्ञान किस इन्द्रिय से हुआ करता है, इस विषय के नियम नियति द्वारा ठहराए गए हैं। वह नियति माया तत्त्व का विस्तार है और मायातत्व परमेश्वर की माया शक्ति का ही बहिर्मुख प्रतिबिम्ब है। अत: शिव की माया ने ही इस नियम को ठहराया है कि केवल रसना अर्थात् स्वाद को चखाने

वाली इन्द्रिय से ही रसतन्मात्र का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। रसतन्मात्र सामान्याकार सूक्ष्मतर स्वादमात्र को कहते हैं। इस रूप में भी स्वयं शिव ही ठहरा है।

छब्बीसवीं कारिका के द्वारा गन्धतन्मात्र रूपी शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

घ्राणेन्द्रियानुग्रहेण यज्ज्ञानं सम्प्रकाशते ।
गन्धतन्मात्रमित्याख्यं शिवमेव नमाम्यहम् ॥२६॥

जिस तन्मात्र का प्रत्यक्ष ज्ञान घ्राणरूपी इन्द्रिय की सहायता से प्रकाशित होता है उस गन्ध-तन्मात्ररूपी शिव को ही मैं प्रणाम कर रहा हूं।

गन्ध को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय को घ्राण कहते हैं। गन्ध-तन्मात्र सामान्याकार सूक्ष्म गन्ध मात्र होता है। वह खुशबू, बदबू आदि विशेषताओं से रहित गन्धमात्र होता है। क्योंकि इस रूप में भी शिव ही ठहरा है, अतः इसको किया जाने वाला प्रणाम भी शिव को ही किया जाता है।

सत्ताईसवें पद्य के द्वारा श्रोत्र नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

येनेन्द्रियेण शब्दानां ज्ञानं समुपजायते ।
श्रोत्राख्याय नमस्तस्मै शिवाय परमात्मने ॥२७॥

जिस इन्द्रिय के द्वारा शब्दों का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ करता है उस श्रोत्र नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए परमात्मा शिव को प्रणाम हो।

शब्दों को पकड़ने वाली बाह्य इन्द्रिय को श्रोत्र कहते हैं। शरीर में इस का स्थान कर्ण-छिद्र होता है। इस रूप में भी शिव ही प्रकट हो रहा है, अतः इस तत्त्व को किया जाने वाला प्रणाम भी वस्तुतः शिव को ही किया जाता है।

अगले श्लोक के द्वारा त्वगिन्द्रिय रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

स्पर्शज्ञाने साधनं तु यदसाधारणं किल।
त्वगाख्याय प्रसिद्धाय शिवाय नतिरस्तु मे ॥२८॥

स्पर्श के प्रत्यक्ष ज्ञान का जो असाधारण कारण "त्वक् (त्वचा)" इस नाम से प्रसिद्ध है उस के रूप में ठहरे हुए शिव को मेरा प्रणाम हो।

शीत, उष्ण, कोमल, कठोर आदि स्पर्श को जतला देने वाली इन्द्रिय को त्वक् या त्वचा कहते हैं। यह इन्द्रिय शरीर के अङ्ग अङ्ग में ठहरी हुई है। इन्द्रिय वस्तुतः विषय ज्ञान के असाधारण सामर्थ्य को कहते हैं। कर्ण छिद्र, नेत्र, नाक आदि अङ्ग उन सामर्थ्यों के ऐसे अधिष्ठान होते हैं जहां वे स्फुटतया अभिव्यक्त होते हुए प्रत्यक्षज्ञान के असाधारण कारण बनते रहते हैं। त्वक्

का अधिष्ठान सारा ही शरीर होता है। वस्तुतः स्वयं शिव ही इस इन्द्रिय के रूप में प्रकट हो जाता है। अतः तत्त्वदर्शी महानुभाव इसके रूप में ठहरे हुए शिव को ही प्रणाम करते हैं।

उनतीसवें श्लोक के द्वारा चक्षुरिन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

जन्यते न विना येन करणेन निरूपणम्।
रूपस्य चक्षुराख्यं तं शिवमेव नमाम्यहम् ॥२९॥

जिस इन्द्रिय के सहयोग के विना रूप नामक विषय का निरूपण किया ही नहीं जा सकता है उस चक्षु नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को ही मैं प्रणाम कर रहा हूं।

चक्षुरिन्द्रिय रूप को पकड़ लेने वाली सामर्थ्य का नाम है। वह सामर्थ्य शरीर में नेत्र के तारे में अभिव्यक्त होती हुई रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण साधन बनती है। वह भी वस्तुतः शिव ही है, क्योंकि शिव ने ही अपने आप को उस रूप में ठहराया हुआ है। करण असाधारण साधन को कहते हैं।

तीसवें पद्य के द्वारा 'रसना' नामक इन्द्रिय के रूप में प्रकट होने वाले शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

रस्यन्ते क्षुभिता आपो येन तत् करणं खलु।
रसनाख्यं सदा वन्दे शिवदैवतमद्भुतम् ॥३०॥

प्रक्षोभ को प्राप्त हुए जल-तत्त्व के स्वाद की अनुभूति जिस करण अर्थात् असाधारण कारण के द्वारा हुआ करती है उस 'रसना' नामक शिवरूपी अद्भुत उपास्य देव को मैं सदा प्रणाम कर रहा हूं।

रस अर्थात् खट्टा, मीठा, नमकीन आदि स्वाद का ज्ञान जीव को अपनी जिस सामर्थ्य से होता है। वह सामर्थ्य ही इस बात में उसके उस ज्ञान का साधन है। वह सामर्थ्य जिह्वा के अग्रभाग पर ही अभिव्यक्त होती है, और कहीं नहीं। रस या स्वाद मूलतः जल का ही विशेष गुण है। पृथ्वी में भी स्वाद होता है, परन्तु उसका प्रत्यक्ष ज्ञान तभी हो सकता है जब जीभ स्थूल जलतत्त्व से गीली बनी रहे। सूखी जीभ द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता नहीं। इस तरह से जल का ही रसन होता है, ऐसा यहां कहा गया। शान्त भाव मे ठहरे हुए किसी भी पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अभिव्यक्ति प्रक्षोभ से ही होती है। इस अभिप्राय से यहां "आपः" का विशेषण "क्षुभिताः" कहा गया।

अगले पद्य के द्वारा घ्राण-इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

गन्धज्ञानं पूरुषस्य जायते येन साधितम्।
करणं तद् घ्राणनामशिवरूपं नमाम्यहम् ॥३१॥

जिस करण के द्वारा जीव को गन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध हो जाता है उस घ्राण-इन्द्रिय नाम वाले शिव के रूप को मैं प्रणाम

कर रहा हूं ।

गन्ध का ज्ञान जिस करण के द्वारा होता है उस कारक का अधिष्ठान नाक है । उस के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है ।

आगे कर्मेन्द्रियों के रूप में ठहरे हुए शिव की स्तुति करते हुए बत्तीसवें श्लोक द्वारा वाक् नामक इन्द्रिय के रूप में उसे प्रणाम किया जा रहा है ।

समर्थो न विना येन पुरुषो वचनक्रियाम् ।
कर्तुं वाक्करणसंज्ञं तं शिवं प्रणमाम्यहम् ॥३२॥

जिस इन्द्रिय के विना पुरुष बोलने की क्रिया को कर नहीं सकता है उस वाक्-इन्द्रिय नामक शिव को मेरा प्रणाम हो ।

वाक् नामक इन्द्रिय का स्थान प्राणी के मुख में होता है और अंशतः नाक में भी । वाणी का उच्चारण प्राण के आघात से होता है । वह आघात कण्ठ और जिह्वामूल से लेकर ओष्ठों तक भिन्न भिन्न अवयवों के साथ जब होता है तो वर्णों के भिन्न-भिन्न वर्गों का उच्चारण होता है । फिर प्राणवायु के बल की भिन्न-भिन्न प्रकारता से एक एक वर्ग में भी घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि वर्णभेद अभिव्यक्त होते हैं । शिव ही स्वयं इस विचित्र वाक् नामक इन्द्रिय के रूप में प्रकट होकर ठहरा है, अतः उसी को प्रणाम किया गया ।

तेतीसवें श्लोक के द्वारा पाणि अर्थात् हस्त नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए स्वात्म-शिव को प्रणाम किया जा रहा है –

आदातुं हि पशुर्येन साधनेन प्रभुर्मतः ।
तस्मै पाणिसमाख्याय शिवाय नतिरस्तुमे ॥३३॥

जिस करण के द्वारा जीव को वस्तु ग्रहण करने में समर्थ माना गया है, उस पाणि नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए मुझ शिव को प्रणाम हो।

पाणि का काम आदान करना अर्थात् पकड़ लेना होता है। इस इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान प्राणी के हाथ होते हैं। परन्तु अन्य अङ्गों से भी आदान किया जा सकता है। अतः यह इन्द्रिय-सामर्थ्य अन्य अङ्गों में भी, जैसे मुख में, बगल में, पैर में भी होती है। तो उन अङ्गों के भीतर भी पाणि नामक करण विद्यमान रहता है। वस्तुत: कर्मेन्द्रिय अधिष्ठानों के साथ इतने बन्धे नहीं रहतेहैं, जितने ज्ञानेन्द्रिय बन्धे रहते हैं। पशु बद्ध जीव को कहते हैं। वह भी तो गाय, बैल की तरह बन्धा ही रहता है। कर्म, अज्ञान आदि उसको बान्धे रखते हैं। आगम शास्त्रों में बद्ध प्राणी को पशु और मुक्त प्राणी को पति कहा गया है। इन्द्रियां पशु को ही घेर कर रखती हैं, पति को नहीं।

चौंतीसवें पद्य के द्वारा पाद-इन्द्रिय के रुप में शिव को प्रणाम किया जा रहा है —

यदन्तरेण गमनव्यापारो नैव जायते ।
करणं तत् पादसंज्ञं शिवरूपं नमाम्यहम् ॥३४॥

जिस इन्द्रिय के विना आने जाने का व्यापार होता ही नहीं उस पाद-इन्द्रिय नाम वाले शिव रूप करण को मैं प्रणाम कर रहा हूं ।

गमन, पेट के बल रींगने से भी हो सकता है, हाथों के द्वारा भी हो सकता है, लुड़कते हुए भी जाया जा सकता है । परन्तु फिर भी इस क्रिया को पैरों के ही द्वारा मुख्यतया किया जा सकता है । अतः सारे शरीर में रहने वाले पाद नामक इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान प्राणी के पैर ही हैं । शिव ही स्वयं इस रूप में भी अपनी लीला से ठहरा रहता है । अतः सिद्धजन चरण-इन्द्रिय के रूप में भी शिव को ही देखते हुए उसे ही प्रणाम करते हैं ।

पैंतीसवीं कारिका के द्वारा मलत्याग का साधन बनने वाली वायु-इन्द्रिय के रुप में शिव को प्रणाम किया जा रहा है —

येनान्तरस्थूलमलं पशुना त्यज्यते बहिः ।
तस्मै पायुसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु मे ॥३५॥

जिस इन्द्रिय के द्वारा शरीर के भीतर रहने वाले स्थूल मल को जीव बाहिर हटाकर उसका परित्याग करता है उस वायु-इन्द्रिय नामक शिव को मेरा प्रणाम हो ।

प्रक्षोभ को प्राप्त हुए जल-तत्त्व के स्वाद की अनुभूति जिस करण अर्थात् असाधारण कारण के द्वारा हुआ करती है उस 'रसना' नामक शिवरूपी अद्भुत उपास्य देव को मैं सदा प्रणाम कर रहा हूं।

रस अर्थात् खट्टा, मीठा, नमकीन आदि स्वाद का ज्ञान जीव को अपनी जिस सामर्थ्य से होता है। वह सामर्थ्य ही इस बात में उसके उस ज्ञान का साधन है। वह सामर्थ्य जिह्वा के अग्रभाग पर ही अभिव्यक्त होती है, और कहीं नहीं। रस या स्वाद मूलतः जल का ही विशेष गुण है। पृथ्वी में भी स्वाद होता है, परन्तु उसका प्रत्यक्ष ज्ञान तभी हो सकता है जब जीभ स्थूल जलतत्त्व से गीली बनी रहे। सूखी जीभ द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता नहीं। इस तरह से जल का ही रसन होता है, ऐसा यहां कहा गया। शान्त भाव मे ठहरे हुए किसी भी पदार्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अभिव्यक्ति प्रक्षोभ से ही होती है। इस अभिप्राय से यहां "आपः" का विशेषण "क्षुभिताः" कहा गया।

अगले पद्य के द्वारा घ्राण-इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

गन्धज्ञानं पूरुषस्य जायते येन साधितम्।
करणं तद् घ्राणनामशिवरूपं नमाम्यहम् ॥३१॥

जिस करण के द्वारा जीव को गन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान सिद्ध हो जाता है उस घ्राण-इन्द्रिय नाम वाले शिव के रूप को मैं प्रणाम

कर रहा हूं ।

गन्ध का ज्ञान जिस करण के द्वारा होता है उस कारक का अधिष्ठान नाक है। उस के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है।

आगे कर्मेन्द्रियों के रूप में ठहरे हुए शिव की स्तुति करते हुए बत्तीसवें श्लोक द्वारा वाक् नामक इन्द्रिय के रूप में उसे प्रणाम किया जा रहा है।

समर्थो न विना येन पुरुषो वचनक्रियाम् ।
कर्तुं वाक्करणसंज्ञं तं शिवं प्रणमाम्यहम् ॥३२॥

जिस इन्द्रिय के विना पुरुष बोलने की क्रिया को कर नहीं सकता है उस वाक्-इन्द्रिय नामक शिव को मेरा प्रणाम हो ।

वाक् नामक इन्द्रिय का स्थान प्राणी के मुख में होता है और अंशतः नाक में भी । वाणी का उच्चारण प्राण के आघात से होता है। वह आघात कण्ठ और जिह्वामूल से लेकर ओष्ठों तक भिन्न भिन्न अवयवों के साथ जब होता है तो वर्णों के भिन्न-भिन्न वर्गों का उच्चारण होता है। फिर प्राणवायु के बल की भिन्न-भिन्न प्रकारता से एक एक वर्ग में भी घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि वर्णभेद अभिव्यक्त होते हैं । शिव ही स्वयं इस विचित्र वाक् नामक इन्द्रिय के रूप में प्रकट होकर ठहरा है, अतः उसी को प्रणाम किया गया ।

तेतीसवें श्लोक के द्वारा पाणि अर्थात् हस्त नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए स्वात्म-शिव को प्रणाम किया जा रहा है –

आदातुं हि पशुर्येन साधनेन प्रभुर्मतः ।
तस्मै पाणिसमाख्याय शिवाय नतिरस्तुमे ॥३३॥

जिस करण के द्वारा जीव को वस्तु ग्रहण करने में समर्थ माना गया है, उस पाणि नामक इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए मुझ शिव को प्रणाम हो ।

पाणि का काम आदान करना अर्थात् पकड़ लेना होता है । इस इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान प्राणी के हाथ होते हैं । परन्तु अन्य अङ्गों से भी आदान किया जा सकता है । अतः यह इन्द्रिय-सामर्थ्य अन्य अङ्गों में भी, जैसे मुख में, बगल में, पैर में भी होती है । तो उन अङ्गों के भीतर भी पाणि नामक करण विद्यमान रहता है । वस्तुत: कर्मेन्द्रिय अधिष्ठानों के साथ इतने बन्धे नहीं रहतेहैं, जितने ज्ञानेन्द्रिय बन्धे रहते हैं । पशु बद्ध जीव को कहते हैं । वह भी तो गाय, बैल की तरह बन्धा ही रहता है । कर्म, अज्ञान आदि उसको बान्धे रखते हैं । आगम शास्त्रों में बद्ध प्राणी को पशु और मुक्त प्राणी को पति कहा गया है । इन्द्रियां पशु को ही घेर कर रखती हैं, पति को नहीं ।

चौंतीसवें पद्य के द्वारा पाद-इन्द्रिय के रुप में शिव को प्रणाम किया जा रहा है —

यदन्तरेण गमनव्यापारो नैव जायते ।
करणं तत् पादसंज्ञं शिवरूपं नमाम्यहम् ।।३४।।

जिस इन्द्रिय के विना आने जाने का व्यापार होता ही नहीं उस पाद-इन्द्रिय नाम वाले शिव रूप करण को मैं प्रणाम कर रहा हूं ।

गमन, पेट के बल रींगने से भी हो सकता है, हाथों के द्वारा भी हो सकता है, लुड़कते हुए भी जाया जा सकता है । परन्तु फिर भी इस क्रिया को पैरों के ही द्वारा मुख्यतया किया जा सकता है । अतः सारे शरीर में रहने वाले पाद नामक इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान प्राणी के पैर ही हैं । शिव ही स्वयं इस रूप में भी अपनी लीला से ठहरा रहता है । अतः सिद्धजन चरण-इन्द्रिय के रूप में भी शिव को ही देखते हुए उसे ही प्रणाम करते हैं ।

पैंतीसवीं कारिका के द्वारा मलत्याग का साधन बनने वाली वायु-इन्द्रिय के रुप में शिव को प्रणाम किया जा रहा है —

येनान्तरस्थूलमलं पशुना त्यज्यते बहिः ।
तस्मै पायुसमाख्याय शिवाय नतिरस्तु मे ।।३५।।

जिस इद्रिन्य के द्वारा शरीर के भीतर रहने वाले स्थूल मल को जीव बाहिर हटाकर उसका परित्याग करता है उस वायु-इन्द्रिय नामक शिव को मेरा प्रणाम हो ।

यद्यपि मल त्याग शरीर के अन्य अन्य द्वारों से और रोमकूपों से भी हुआ करता है फिर भी इस इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान अधोद्वार को ही माना गया है। पायु इन्द्रिय के द्वारा स्थूल भौतिक मल का ही परित्याग किया जा सकता है, मानस काम क्रोध आदि सूक्ष्ममल का नहीं और न ही आणव आदि उस सूक्ष्मतर मल का जो प्राणी की आत्मा पर जमा रहता है। इस अभिप्राय से "स्थूल" ऐसे विशेषण पद का प्रयोग किया गया।

छत्तीसवीं कारिका के द्वारा उपस्थ-इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है।

हेयाहेयाऽपरिज्ञान चित्तविश्रान्तिलक्षणम्।
उपस्थसंज्ञां बिभ्राणं शिवमेव नमाम्यहम् ॥३६॥

हेयता और उपादेयता के परिज्ञान के राहित्य में चित्त की विश्रान्ति को अभिव्यक्त करने वाले और "उपस्थ इन्द्रिय" इस नाम को धारण करने वाले शिव को में प्रणाम कर रहा हूं।

उपस्थ इन्द्रिय का दूसरा नाम "आनन्दन" है। इस इन्द्रिय के द्वारा काम सुख रूपी विषयानन्द की ऐसी अभिव्यक्ति हो जाती है जिसके चमकते हुए प्राणी को यह विचार ही लुप्त हो जाता है कि कौन वस्तु हेय (छोडने के योग्य) है और कौन उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) है, फिर हेयता का और उपादेयता का भी ज्ञान नहीं रहता। अर्थात् यह भी पता नहीं चलता है कि छोड़ देना

या ग्रहण करना क्या होता है । इन दोनों ही क्रियाओं से विरत होकर प्राणी अपने जीवस्वरूप में क्षणभर के लिए अवस्थित हो जाता है । वह स्वरूप स्थिति आनन्दमयी होती है । उस आनन्दमयी स्थिति में निश्चिन्त और निश्चेष्ट होकर ठहरना विश्रान्ति शब्द का अर्थ है । परन्तु जिस स्वरूप में वह स्थिति प्राय: हो जाती है वह स्वरूप जीव चैतन्य अर्थात् परिमित चैतन्य होता है । अत: वह क्षण भर ही ठहरती है और प्राणी को अपने वास्तविक स्वरूप का स्फुट साक्षात्कार उसमें नहीं हो पाता । परन्तु उससे पता चल जाता है कि वह वास्तविक स्वरूप कैसा होना चाहिए । रहस्यभूत उपायों के द्वारा उस क्षणिक अनुभूति को लेकर के उसी के द्वार से परिपूर्ण संवित्स्वरुप में भी प्रवेश किया जा तो सकता है परन्तु उन रहस्यमय उपायों की प्रक्रिया को वर्तमान युग में कौन जानता है, कौन सिखा सकता है और कौन सीख सकता है । अस्तु ।

आगे पांच भूत-तत्त्वों के रुप में शिव को प्रणाम किया जा रहा है । सिद्धों की दर्शनविद्या के अनुसार पांच सूक्ष्म तन्मात्र तत्त्वों में जब क्षोभ उत्पन्न किया जाता है तो वे तन्मात्र तत्त्व क्षुभित होकर स्थूलता को धारण करते हैं और इस तरह से पांच स्थूल भूतों के रुप में प्रकट हो जाते हैं । उनमें इस प्रकार के क्षोभ को भगवान श्रीकण्ठनाथ ही उत्पन्न करते हैं । मूलत: इन स्थूल भूतों के रुप में भी शिव ही अपनी लीला के विलास का अभिनय करता हुआ प्रकट होता रहता है । अत: सिद्ध जन इन के रुप में भी शिव को ही देखते रहते हैं । तो सैन्तीसवीं कारिका के

द्वारा आकाश तत्त्व के रूप में प्रकट हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

क्षुभितं शब्द तन्मात्रमवकाशप्रदायकम् ।
आकाशनामविख्यातं वन्दे परशिवं मुदा ॥३७॥

शब्द तन्मात्र तत्त्व प्रक्षुब्ध हो कर अवकाश देने में समर्थ बन कर 'आकाश' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इस रूप में ठहरे हुए परमशिव को मैं हर्षपूर्वक प्रणाम कर रहा हूं ।

शब्द में यह सामर्थ्य है कि वह अर्थ को अपने में अवकाश अर्थात् स्थान देता है । तभी शब्द के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान अनायास ही हो जाता है, मानो कि शब्द के भीतर अर्थ ठहरा सा हो । तो भगवान् श्रीकण्ठनाथ की प्रेरणा से जब सूक्ष्म शब्द तन्मात्र क्षुभित होकर विकास को प्राप्त कर जाता है तो एक ऐसे तत्त्व के रूप को धारण करता है जो मूर्त स्थूल तत्त्वों को अपने में स्थान दे सके । उस स्थान या अवकाश को देने वाले तत्त्व का ही नाम आकाश तत्त्व है जिसका विशेष गुण शब्द है और जिस के रूप में ठहरे हुए परमशिव को यहां प्रणाम किया जा रहा है ।

अगली कारिका के द्वारा पवन अर्थात् वायु तत्त्व के रूप में ठहरे शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

क्षुभितं स्पर्शतन्मात्रं सञ्जीवनकरं पशोः ।
पवनाख्यासुविख्याता शिवदेवं नमाम्यहम् ॥३८॥

क्षोभ को प्राप्त हुआ स्पर्शतन्मात्र तत्व पशु प्रमाताओं को जीवित रखता हुआ पवन नाम से प्रसिद्ध हो चुका है । उस रूप में मैं भगवान् शिव को प्रणाम कर रहा हूं ।

सूक्ष्म स्पर्शतन्मात्र को जब प्रक्षुब्ध किया जाता है तो वह स्थूल बन कर पवन अर्थात् वायु के रूप को धारण कर जाता है । उस रूप में वह पशु प्रमाताओं का प्राण बन कर उन्हें जीवित रखता है । प्राण-अपान की गति ही जीवन है और वही जीवन के समस्त अन्य व्यापारों का आधार है । उसके समाप्त हो जाने पर प्राणी जीवित नहीं रहता है । इस स्थूल तत्त्व को पवन या वायु कहते हैं । स्पर्श तन्मात्र इस का उपादान कारण है । तभी स्पर्श वायु का विशेष गुण है ।

उन्तालीसवें श्लोक के द्वारा अग्नि नामक तत्त्व के रूप में अवस्थित भगवान शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

क्षुभितं रूपतन्मात्रं दाहकत्वादिधर्मकम् ।
तेजोभिधानविख्यातं नमामि शिवदैवतम् ॥३९॥

सूक्ष्म रूपतन्मात्र तत्त्व प्रक्षुब्ध होकर और दाहकत्व आदि स्वभावों वाला बन कर तेज या अग्नि इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है । उस के रूप में ठहरे हुए भगवान शिव को मैं प्रणाम करता हूं ।

सूक्ष्म रूप-तन्मात्र जब श्रीकण्ठ नाथ की प्रेरणा से प्रक्षुब्ध

यद्यपि मल त्याग शरीर के अन्य अन्य द्वारों से और रोमकूपों से भी हुआ करता है फिर भी इस इन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान अधोद्वार को ही माना गया है। पायु इन्द्रिय के द्वारा स्थूल भौतिक मल का ही परित्याग किया जा सकता है, मानस काम क्रोध आदि सूक्ष्ममल का नहीं और न ही आणव आदि उस सूक्ष्मतर मल का जो प्राणी की आत्मा पर जमा रहता है। इस अभिप्राय से "स्थूल" ऐसे विशेषण पद का प्रयोग किया गया।

छत्तीसवीं कारिका के द्वारा उपस्थ-इन्द्रिय के रूप में ठहरे हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है।

हेयाहेयाऽपरिज्ञान चित्तविश्रान्तिलक्षणम्।
उपस्थसंज्ञां बिभ्राणं शिवमेव नमाम्यहम् ॥३६॥

हेयता और उपादेयता के परिज्ञान के राहित्य में चित्त की विश्रान्ति को अभिव्यक्त करने वाले और "उपस्थ इन्द्रिय" इस नाम को धारण करने वाले शिव को में प्रणाम कर रहा हूं।

उपस्थ इन्द्रिय का दूसरा नाम "आनन्दन" है। इस इन्द्रिय के द्वारा काम सुख रूपी विषयानन्द की ऐसी अभिव्यक्ति हो जाती है जिसके चमकते हुए प्राणी को यह विचार ही लुप्त हो जाता है कि कौन वस्तु हेय (छोडने के योग्य) है और कौन उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) है, फिर हेयता का और उपादेयता का भी ज्ञान नहीं रहता। अर्थात् यह भी पता नहीं चलता है कि छोड़ देना

या ग्रहण करना क्या होता है । इन दोनों ही क्रियाओं से विरत होकर प्राणी अपने जीवस्वरूप में क्षणभर के लिए अवस्थित हो जाता है । वह स्वरूप स्थिति आनन्दमयी होती है । उस आनन्दमयी स्थिति में निश्चिन्त और निश्चेष्ट होकर ठहरना विश्रान्ति शब्द का अर्थ है । परन्तु जिस स्वरूप में वह स्थिति प्राय: हो जाती है वह स्वरूप जीव चैतन्य अर्थात् परिमित चैतन्य होता है । अत: वह क्षण भर ही ठहरती है और प्राणी को अपने वास्तविक स्वरूप का स्फुट साक्षात्कार उसमें नहीं हो पाता । परन्तु उससे पता चल जाता है कि वह वास्तविक स्वरूप कैसा होना चाहिए । रहस्यभूत उपायों के द्वारा उस क्षणिक अनुभूति को लेकर के उसी के द्वार से परिपूर्ण सवित्स्वरुप में भी प्रवेश किया जा तो सकता है परन्तु उन रहस्यमय उपायों की प्रक्रिया को वर्तमान युग में कौन जानता है, कौन सिखा सकता है और कौन सीख सकता है । अस्तु ।

आगे पांच भूत-तत्त्वों के रुप में शिव को प्रणाम किया जा रहा है । सिद्धों की दर्शनविद्या के अनुसार पांच सूक्ष्म तन्मात्र तत्त्वों में जब क्षोभ उत्पन्न किया जाता है तो वे तन्मात्र तत्त्व क्षुभित होकर स्थूलता को धारण करते हैं और इस तरह से पांच स्थूल भूतों के रुप में प्रकट हो जाते हैं । उनमें इस प्रकार के क्षोभ को भगवान श्रीकण्ठनाथ ही उत्पन्न करते हैं । मूलत: इन स्थूल भूतों के रुप में भी शिव ही अपनी लीला के विलास का अभिनय करता हुआ प्रकट होता रहता है । अत: सिद्ध जन इन के रुप में भी शिव को ही देखते रहते हैं । तो सैन्तीसवीं कारिका के

द्वारा आकाश तत्त्व के रुप में प्रकट हुए शिव को प्रणाम किया जा रहा है —

क्षुभितं शब्द तन्मात्रमवकाशप्रदायकम् ।
आकाशनामविख्यातं वन्दे परशिवं मुदा ॥३७॥

शब्द तन्मात्र तत्त्व प्रक्षुब्ध हो कर अवकाश देने में समर्थ बन कर 'आकाश' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इस रूप में ठहरे हुए परमशिव को मैं हर्षपूर्वक प्रणाम कर रहा हूं ।

शब्द में यह सामर्थ्य हैं कि वह अर्थ को अपने में अवकाश अर्थात् स्थान देता है । तभी शब्द के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान अनायास ही हो जाता है, मानो कि शब्द के भीतर अर्थ ठहरा सा हो । तो भगवान् श्रीकण्ठनाथ की प्रेरणा से जब सूक्ष्म शब्द तन्मात्र क्षुभित होकर विकास को प्राप्त कर जाता है तो एक ऐसे तत्त्व के रुप को धारण करता है जो मूर्त स्थूल तत्त्वों को अपने में स्थान दे सके । उस स्थान या अवकाश को देने वाले तत्त्व का ही नाम आकाश तत्त्व है जिसका विशेष गुण शब्द है और जिस के रुप में ठहरे हुए परमशिव को यहां प्रणाम किया जा रहा है ।

अगली कारिका के द्वारा पवन अर्थात् वायु तत्त्व के रुप में ठहरे शिव को प्रणाम किया जा रहा है —

क्षुभितं स्पर्शतान्मात्रं सञ्जीवनकरं पशोः ।
पवनाख्यासुविख्याता शिवदेवं नमाम्यहम् ॥३८॥

क्षोभ को प्राप्त हुआ स्पर्शतन्मात्र तत्व पशु प्रमाताओं को जीवित रखता हुआ पवन नाम से प्रसिद्ध हो चुका है । उस रूप में मैं भगवान् शिव को प्रणाम कर रहा हूं ।

सूक्ष्म स्पर्शतन्मात्र को जब प्रक्षुब्ध किया जाता है तो वह स्थूल बन कर पवन अर्थात् वायु के रूप को धारण कर जाता है । उस रूप में वह पशु प्रमाताओं का प्राण बन कर उन्हें जीवित रखता है । प्राण-अपान की गति ही जीवन है और वही जीवन के समस्त अन्य व्यापारों का आधार है । उसके समाप्त हो जान पर प्राणी जीवित नहीं रहता है । इस स्थूल तत्त्व को पवन या वायु कहते हैं । स्पर्श तन्मात्र इस का उपादान कारण है । तभी स्पर्श वायु का विशेष गुण है ।

उन्तालीसवें श्लोक के द्वारा अग्नि नामक तत्त्व के रूप में अवस्थित भगवान शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

क्षुभितं रूपतन्मात्रं दाहकत्वादिधर्मकम् ।
तेजोभिधानविख्यातं नमामि शिवदैवतम् ॥३९॥

सूक्ष्म रूपतन्मात्र तत्त्व प्रक्षुब्ध होकर और दाहकत्व आदि स्वभावों वाला बन कर तेज या अग्नि इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है । उस के रूप में ठहरे हुए भगवान शिव को मैं प्रणाम करता हूं ।

सूक्ष्म रूप-तन्मात्र जब श्रीकण्ठ नाथ की प्रेरणा से प्रक्षुब्ध

होकर स्थूल बन जाता है तो प्रभास्वर शुक्ल रूप वाले अग्नितत्त्व रूप को धारण करता है । इसी लिए रूप अग्नि का विशेषगुण है। अग्नि से दाहन, प्रकाशन, पाचन आदि अनेकों काम होते हैं ।

अगले श्लोक के द्वारा जल तत्त्व रूपी शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

क्षुभितं रसतन्मात्रमाप्यायन करं पशोः ।
अबाख्यया ख्यातिमाप्तं शिवमेव नमाम्यहम् ॥४०॥

रस तन्मात्र प्रक्षुब्ध होकर जीवों के शरीरों का आप्यायन आदि करने बाला 'आपः' अर्थात् जलतत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इस रूप में ठहरे हुए शिव को ही मैं प्रणाम कर रहा हूं ।

सूक्ष्म रस तत्त्व जब प्रक्षुब्ध हो जाता है तो स्थूल जल तत्त्व के रूप में प्रकट होता है । तभी रस इस जल का विशेष गुण है । जल से प्राणियों के शरीर का आप्यायन (पुष्टि) होता है । अतः इस तत्त्व का नाम "आपः" ऐसा प्रसिद्ध हुआ है । सिद्ध योगी इस के रूप में भी शिव को ही देखते हुए उसी को प्रणाम करते हैं ।

इकतालीसवें श्लोक के द्वारा पृथ्वी तत्त्व रूपी शिव को प्रणाम किया जा रहा है—

क्षुभितं गन्धतन्मात्रं धारकं सकलस्य च ।
पृथिवीत्याख्ययाख्यातं वन्दे परशिवं प्रभुम् ॥४१॥

प्रक्षोभ को प्राप्त हुआ गन्ध तन्मात्र समस्त विश्व को धारण करने वाला बनकर धरा या पृथ्वी इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस रूप में मैं अपने प्रभु परम शिव को प्रणाम कर रहा हूं।

सूक्ष्म गन्ध तन्मात्र ही प्रक्षुब्ध होकर जब स्थूल रूप को धारण करता है तो पृथ्वी तत्त्व के रूप में प्रकट हो जाता है। तभी तो गन्ध पृथ्वी का ही विशेष गुण होता है। पृथ्वी सारे जीवगणों को धारण करती है। अतः इसे धरा कहा जाता है। अति विशालता से फैली हुई है, अतः पृथ्वी कहलाती है। यह परमशिव का छत्तीसवां रूप है जिस रूप में उसे यहां प्रणाम किया गया।

यहां तक छत्तीसों तत्त्वों का निरूपण भी साथ साथ संक्षेप से हो गया। इस तरह से यह स्तोत्र एक शास्त्र का काम भी दे रहा है। तभी इस के पद्यों को कारिका भी कहा गया। इस स्तोत्र का निर्माण करके इस को स्तोत्रकार ने भगवान काशी पति विश्वनाथ शिव को अर्पण किया। तदनुसार बयालीसवें श्लोक के द्वारा उन को भी प्रणाम किया जा रहा है—

अक्षातीतायाक्षमायाऽक्षमयाय क्षमावते ।
अविमुक्तक्षेत्रवासिशिवाय नतिरस्तु मे ॥४२॥

अक्षमाय=अकार-क्षकार-मकाररूपाया। तत्र अकारोऽनुत्तरः=परशिवः, क्षकारः=शक्तिः, मकारः=पुरुषो नरतत्त्वरूपः। तेन शिव-शक्ति-नरात्मकाय। अक्षमयाय=अकारक्षकारकृत-प्रत्याहार-स्वरूपाय। अकारो मातृकाक्रमे प्रथमो वर्णः, क्षकारश्च चरमः। मध्ये पुनरितरे वर्णाः। तेन "अक्ष" इति प्रत्याहारेण सर्वेऽपि मातृकावर्णाः गृहीताः, ततो मातृकामयायेति तात्पर्यम्। क्षमा तावत् क्षमता, सामर्थ्यं शक्तिस्तद्वते। अवयोऽपि यत्र मुक्ता भवन्ति तस्मिन् सकलप्राणिमुक्तिप्रदे क्षेत्रे निवासिने विश्वनाथरूपाय शिवाय इति।

जो इन्द्रियों से अतीत हैं, जो शिव, शक्ति, नररूप होते हुए त्रिकरूप हैं, जो मातृकामय रूप को धारण करते हैं, जो सर्वशक्तिमान् और क्षमाशील हैं, तथा जो उस काशीक्षेत्र में निवास करने वाले हैं जहां रहने वाली भेड़ियां भी मुक्ति को प्राप्त कर लेती हैं, उन विश्वनाथ जी शिव को मेरा प्रणाम हो।

शिव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो नहीं सकता, अतः वे अक्षातीत हैं। फिर वे अ, क्ष और म के रूप में प्रकट होते ही रहते हैं। अ है परमशिव, क्ष है शक्ति और म है पुरुष तत्त्व। ये शैव दर्शन के शिव-शक्ति और नर नाम के तत्त्वों का त्रिक है। विश्वनाथ शिव इस त्रिक के रूप में प्रकट होते रहते हैं। मातृका के वर्णों में सब से पहला है "अ" और सब से

अन्तिम है क्ष। अ और क्ष को परस्पर जोड़ने से 'अक्ष" ऐसा वर्ण प्रत्याहार बनता है जो बीच वाले समस्त वर्णों का भी बोधक है। मातृका क्रम में शिव इस वर्णसमुदाय के रूप में चमका करते हैं। अतः उन्हें अक्ष-मय कहा गया। क्षमा पद सहन शीलता और शक्ति का बोधक है। शिव शक्तिमान भी हैं और आशुतोष होते हुए क्षमाशील भी हैं। अवि भेड़ी को कहते हैं। काशी क्षेत्र में मरने वाले सभी प्राणी मुक्त हो जाते हैं। अतः उसे अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं। तात्पर्य है कि वह क्षेत्र जहां मरने वाली भेड़-भेड़ियां भी मुक्त हो जाती हैं। उस क्षेत्र के स्वामी विश्वनाथ शिव को यहां प्रणाम किया जा रहा है। इस स्तोत्र का निर्माण आचार्य महोदय ने १९८३ वि० सं० में किया और तभी इसे काशीपति को अर्पण किया। उन्होंने इसे स्वीकार किया।

अगले श्लोक के द्वारा स्तोत्र का उपसंहार किया जा रहा है—

स्तोत्रमेतद्वरकल वैद्यनाथहृदम्बुजात्।
निर्गतं परमप्रीत्यै परात्परतरेच्छया ॥४३॥

वैद्यनाथ वरकले (नामक महापुरुष) के हृदय-कमल में से यह स्तोत्र उत्कृष्ट से भी उत्कृष्टतर इच्छा शक्ति के स्पन्दन से परम आनन्द की प्राप्ति के लिये निकला है।

पूज्य पाद आचार्य महोदय का घर में रखा गया नाम श्री वैद्यनाथ था और बरकले उनके वंश की अल्ल थी। भगवान्

दुर्वासा के द्वारा सिखाए गए शाम्भवयोग के अभ्यास से उन्हें छत्तीसों तत्त्व स्वात्मशिव ही के रूप में साक्षात् अनुभव में आए । तदनुसार उन्हें जब तीव्र इच्छा हुई कि इन इन रूपो में भगवान् शिव की स्तुति करने के लिए एक स्तोत्र का निर्माण करें तो तब उनके हृदय के उल्लास से इस स्तोत्र के श्लोक परिस्पन्दित होते हुए स्फुरित हो गए। उन्हें लिखकर उन्होंने पाठ द्वारा इस स्तोत्र को काशीपति भगवान् विश्वनाथ को अर्पण किया। उससे उन्हें अतीव आनन्द की चर्वणा का अनुभव हुआ।

यद्यपि तब भी वे अपने आपके विषय में "अमृतवाग्भव" इस नाम का उपयोग कभी कभी करते थे, जैसा कि स्तोत्र के तीसरे श्लोक में संकेत दिया गया है, परन्तु फिर भी अधिकतर अपने घर में दिए हुए ऊपरोक्त नाम का ही प्रयोग किया करते थे। वाराणसी में एक कविता संग्रह में छपी हुई "पिकसन्देश" नामक कविता में भी उन्होंने अपना नाम "वैद्यनाथ वरकले" ही दिया है । वाराणसी को छोड़ देने के अनन्तर लिखी गई अपनी सभी पुस्तकों में उन्होंने "अमृतवाग्भव" यही अपना नाम दिया है । वैसे इन्हें हिमाचलप्रदेश में और जम्मू कश्मीर में लोग "आनन्दस्वरूप" नाम से भी जानते रहे। अस्तु ।

एक श्लोक के द्वारा इस स्तोत्र से शिवजी की उपासना करके फल का वर्णन किया जा रहा है —

सम्प्राप्य गुरु वक्त्राब्जाच्चेतसानन्यगामिना ।
सम्पठन् स्तोत्रमेतत् स्यात् पशुः पशुपतिः किल ॥४४॥

इस स्तोत्र को सद्गुरु के मुखकमल से प्राप्त करके एकाग्र चित्त से पाठ करता हुआ पशु प्रमाता (अर्थात् बद्ध जीव) पशुपति अर्थात् शिव बन सकता है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानिये।

अनुभवशील गुरु ही ऐसी रहस्यमयी रचनाओं के रहस्य को समझा सकता है। फिर अनुभवशील गुरु में अनुग्रह करने की शक्ति भी होती है और उसकी वाणी में दिव्य प्रभाव भी होता है। उन बातों से मन्त्रों में वीर्य आ जाता है। तब वे पूरी तरह से अभीष्ट फलों को दे सकने में समर्थ बनते हैं। इस शास्त्र-रहस्य की ओर इस श्लोक में संकेत किया गया है। इस तरह की उपासना से उपासक अपने आप को परमशिव से जब अभिन्न देखने लगता है तो तब वह पशु रूप में विचरण करता हुआ भी शिवरूप हो जाता है। जब तक जीवित रहता है तब तक जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है। शरीर छूटने पर या तो शिवभाव में प्रवेश करता है या पारमेश्वरी प्रशासन में किसी उच्च अधिकार को हाथ में ले लेता है।

अन्तिम पद्य के द्वारा स्तोत्र के निर्माण के काल को इस तरह से बताया गया है—

गजधाटीमिते वर्षे वक्रमे मासि चाश्विने।
गुरौ शुक्लप्रतिपदि स्वानन्दायोदभून्नुतिः ॥४५॥

विक्रम संवत् १९८३ में आश्विन महीने के शुक्लपक्ष की

प्रतिपदा को गुरुवार के दिन अपने आत्म आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए इस नमस्कारात्मक स्तुति का निर्माण हुआ।

जैमिनीय गणित के अनुसार अक्षरों के द्वारा जो संख्याएं जतलाई जाती हैं उनके आधार पर ग=३, ज=८, धा=९ और टी=१। इन अंकों को उल्टा कर पढ़ने से १९८३ संख्या बनती है जो उस संख्या वाले विक्रम संवत् को बताती है।

इति श्री वाराणस्यभिजन-महाराष्ट्र-विप्र-वंशावतंस-
महामाहेश्वर-वरकल-वैद्यनाथ-हृदयम्बुजो-
ल्लासितं परमशिवस्तोत्रं

सम्पूर्णम्

वाराणसी में निवास करने वाले महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के
वंश के विभूषण महामाहेश्वर श्रीवैद्यनाथ के
हृदय कमल में से उल्लास को प्राप्त हुआ।
यह परमशिवस्तोत्र
पूरा हो गया

अनेन परमशिवस्तोत्र-प्रणयन कर्मणा
श्रीमदविमुक्तक्षेत्रनिवासिपरम
महम्महः प्रीयताम्।

इस परमशिवस्तोत्र का निर्माण करने से
भेड़ों तक को मुक्ति देने वाले
काशीक्षेत्र में निवास करने वाले
परिपूर्ण अहंप्रकाशरूपी शिव
प्रसन्न होवें।

पाठान्तर (कल्पित)

श्लो० सं०	मूल पाठ	परिकल्पित पाठ
८	समाच्छाद्येदंस्फुरत्ताम्-	इदं स्फुरत्तामाच्छाद्य
,,	हन्तास्फुरणात्मना	हन्ताप्रस्फुरणात्मन ।
९	अहम्बोध-समर्थाय	अहंबोद्धुं समर्थाय ।
१५	कस्मिनेकस्मिन्नेव वस्तुनि	कस्मिँश्चिदेकस्मिन् हि वस्तुनि ।
१७	स्वसार्वज्ञं पिधाय तु	स्वमैश्वर्यं पिधाय तु ।
२२	नमामि शिवमद्भुतम्	तं वन्दे शिवमद्भुतम् ।
२३	वन्देऽहं शिवदैवतम्	वन्दे तच्छिवदैवतम् ।
२४	रूपतन्मात्ररूपेण विलसन्तं शिवं नुमः	रूपतन्मात्ररूपेण तं क्रीडन्तं शिवं नुमः ॥ अथवा रूपतन्मात्ररूपं तं विलसन्त शिव नुमः ॥
२६	शिवमेव नमाम्यहम्	शिवमेव नमामि तम्
२८	त्वगाख्याय प्रसिद्धाय	तस्मै त्वगिन्द्रियाख्याय ।
३१	करणं तद् घ्राण नाम शिवरूपं	करणं घ्राणसंज्ञं तच्छिवरूपं .... ॥
३२	कर्तुं वाक्करणसंज्ञं तं शिवं प्रणमाम्यहम्	कर्तुं वाक्करणाख्यं तं शिवं सम्प्रणमाम्यहम् ॥
६६	हेयाहेयापरिज्ञान-	हेयाहेयापरिज्ञाने
४१	पृथिवीत्याख्ययाख्यातं	धराख्यया सुविख्यातं अथवा धरेति नाम्ना विख्यातं

❀ श्रीः ❀

श्री वस्तुस्थितिप्रकाश

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-महामहिम-

श्रीमद्अमृतवाग्भव-आचार्य-कृत

व्याख्याकार—

डा० बलजिन्नाथपण्डित, शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.

प्रकाशक :

श्रीपीठ, सैद्ध-दर्शन शोध-संस्थान, जम्मू ।

वस्तुस्थिति प्रकाश
विषय सूची

———

प्रथम उन्मेष

वस्तु स्थिति

का तत्त्व

पानी की पीठ पर तरङ्ग नाच उठी। वह अपने बाहर भीतर पानी को देख रही थी, फिर भी अपने आपको 'मैं पानी नहीं, तरङ्ग हूं' ऐसा मान रही थी, एक बड़ी लहर आई, सहस्रों उस जैसी तरङ्गे लहरमें लहर हो गई। बड़ी लाटोंने उन लहरोंको विराम दिया। समयने उन लाटों को भी विश्रान्त कर दिया। खेल चल रहा था। कुछ नटोंके वेषमें और कुछ दर्शकों के वेषमें थे। प्रत्येक दूसरे को देखता अपने को नहीं! सूत्रधारको कोई नहीं देख पाता था। पर सूत्रधार अपने आप में आनन्द विभोर हो रहा था। एक ही समय में उसने नट नाट्य नाटक की यवनिका आदि सामग्री रङ्गमञ्च और प्रेक्षक आदि सभी कुछ अपने आप में ही निर्माण कर लिया। समग्र नाटक अथसे इति पर्यन्त किया,

दिखाया, देखा और पुनः वैसाका वैसा ही आनन्द निमग्न । यह निरन्तर चल रहा है । इसमें थकावट भी एक खेल है । जीना भी एक लीला और मरना भी । हंसना, रोना, चढ़ना, गिरना सभी खेल हैं । यदि इससे उक्ताहट हो किसी को तो वह भी एक खेल बन गया । किसी ने अपनी जान में खेल बन्द कर दिया तो वह भी एक दृश्य हो रहा । कोई नट किसी की दृष्टि में नाट्य में विस्मृति कर बैठा तो वह भी एक नाट्य का दृश्य ! यह एक ऐसा अद्भुत नाटक चल रहा है कि इसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य तीनों तीनों के स्वांग रच सकते हैं । इस खेल का आमूलचूल जिस पर निर्भर करता है वह क्या है ? इसको कल्पितकी जननी कल्पना भी नहीं जान सकती । हां, कोई इसे जाने वा न जाने इसकी सत्ता में कोई भी वाधा नहीं पड़ती । सभी कल्पित नाटक की अम्बा होने का सौभाग्य कल्पना शक्ति को प्राप्त हुआ है, वह सब की दादी भी कही जा सकती है । परन्तु उसके भी माता पिता हैं । वे दोनों ही परम सुन्दर हैं, दोनों ही वे एक दूसरे के सौन्दर्य का निरन्तर उपभोग करते रहते हैं । एक मां बनती है तो दूसरा पिता । पूर्ण एकमत से उन की क्रीड़ा होती रहती है । उनमें भेद डालने वाले की कल्पना तो उन्हींके अधिकार की बात ठहरी न ? वास्तव में वे दोनों हैं एक ही । उनकी उत्पत्ति नहीं होती तो फिर लय कहां ? इसलिये स्थिति भी नहीं । जैसे पिघला हुआ पानी और घनीभूत हिम । किन्तु पहले घन था या पानी, इसका निर्णय कैसे हो ? ये दोनों मूल वस्तु पर कल्पनाएं हैं । पानी अथवा हिम ये

दोनों नाम रूप मूल वस्तुके ही हैं । आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं -

अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया ।
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपराऽऽनन्दपरयोः ।

[आप दोनों का सम्बन्ध तो अवश्य वर्तमान है, वह कभी नहीं टूटता, किन्तु कौन किसका क्या लगता है यह निर्धारण आपकी कल्पना में है। दोनों ही शेष और दोनों ही शेषी। सभी प्रकार के सम्बन्धों के आस्वादन में एक विलक्षण उत्तम आनन्द है और उस में आप दोनों निरन्तर तत्पर रहते हैं । एक ही समय दोनों ही गौण और मुख्य दीखते और दिखाते भी हैं । अतः धारण पोषणादि सभी बातें आप की समान ही हैं, ऐसा निश्चय है, तब तो कौन सा ऐसा सम्बन्ध है जो आपका न हो ?]

नाटक में प्रत्येक पात्र रस और कला से पूर्ण ही है । स्थायी भाव की अभिव्यक्ति सर्वत्र हो सकती है । विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भाव सभी सरस तरङ्ग हैं । वे सब सुसम्बद्ध हों तो स्थायी भाव अभिव्यक्त ही है। स्थायी भाव ही रसराज है । वह अभिनव रमणीय है। वही इस महान नाटक का महान् सूत्रधार है तथा उसकी अभिन्न स्वरूप महाकामेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी राजराजेश्वरी महाकामकला ही महानटी है । बहुत चमकीले होने से इन्हें प्रकाश कहा जाता है और अपने प्रकाश की परिपूर्ण अभिज्ञप्ति होने से इन्हें विमर्श कहते हैं । विमर्श तथा प्रकाश

का साक्षात्कार साथ ही होता है। ये दोनों ही परिपूर्ण समरस रह कर अनन्ताऽनन्त स्वरूपों से आत्मानन्द नाटक खेलकर अपने परिपूर्णानन्द में निमग्न रहते हैं। पानी के रूपविशेषको तरङ्ग कहा जाता है। वह अपने को पानी कैसे समझेगी ? पानी ही प्रकाश है और इसीलिये पानी को ही अपने स्वभावका विमर्श हो सकता है, तरङ्ग को नहीं। प्रकृति और विकृति में विकृति काल्पनिक होती है। काल्पनिक की सत्ता नहीं होती। अत एव चिन्ता तथा आनन्दता की शङ्का भी उसके लिये नहीं। जो वस्तु है ही नहीं, उसका विमर्श भी नहीं होता। जिसका प्रकाश होता है, उसीका विमर्श भी होता है, विमर्शहीनका प्रकाश और प्रकाशहीन का विमर्श शङ्का-पथ में भी नहीं आता। सत्ताका साक्षात्कार सत्को ही हो सकता है। काल्पनिक सत् वास्तविक नहीं। वास्तविक सत्ता ही महाप्रकाश, महानन्द, महासत्ता, महानट, चिदम्बर, रसराज, परशिव, महाकामेश्वर कहा जा सकता है। वही माता पिता हैं। इनकी कुमारी चित्कला लीला-परायणा समस्त कल्पित चराचरकी सञ्चालिका बालिका कल्पना है। उस कल्पना बालाके खेलनेके लिए अनन्तानन्त खिलौने बनाये गये हैं। वह अपने अभिनवरमणीय प्रकाश-विमर्श-स्वरूप माता-पिता की गोद में निरन्तर खेलती है। इसी प्रकार उस कल्पना चित्कला विलासिनी बाला के स्वरूप चित्समुद्रमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने विकारों के साथ उत्पन्न होते हैं, स्थिति लाभ भी करते हैं, और अन्त में विलीन हो जाते हैं। आत्मस्वरूप की विस्मृति से निगृहीत और प्रत्यभिज्ञान से अनुगृहीत होते हैं। ऐसा अद्भुत नाटक निरन्तर चल ही रहा है। निग्रह

मे बन्धको और अनुग्रह में मोक्षकी कल्पना की गई है, बन्ध अथवा भोग और मोक्ष अथवा त्याग वस्तुसत् नहीं । श्री धर्माचार्य का कहना क्या ही सुन्दर है, देखिये —

मयूखाः पूष्णीव ज्वलन इव दाप्तीप्तिकणिकाः
पयोधौ कल्लोलप्रतिहतमहिम्नीव पृषतः ।
उदेत्योदेत्याम्ब ! त्वयि सह निजैस्तात्त्विककुलै-
र्भजन्ते तत्त्वौघाः प्रशममनुकल्पं परवशाः ॥

(प. स्त ५-३२)

[सूर्यकी सत्ता न हो तो उसके किरण भी नहीं रह सकते । किरण सूर्यकी सत्ता में ही उदित होते हैं, पलते हैं और अन्त में वहीं लीन भी होते हैं । किरणों में संख्या इच्छानुसार बनाई जा सकती है । जैसे छोटे बड़े छिद्र गवाक्षादि के हों और जितनी संख्या के हों उतने ही छोटे बड़े तथा उतनी संख्या के किरण होते हैं । कुछ भी हो सभी किरणों के सृष्टि, स्थिति, लय सूर्य में ही कल्पित होते हैं । अग्नि में उसकी चिनगारियां उत्पन्न होती हैं; रहती हैं और अन्त में वहीं लीन हो जाती हैं । समुद्र में कल्लोल उठते हैं । वे आपस में एक दूसरे से टकराते हैं । यह उसकी स्वाभाविक महिमा है । उस कल्लोल बिलोडित पयोधिमें छोटे छोटे बिन्दुओं का अलग अलग सृष्टि, स्थिति, लय होता सा दिखाई देने लग जाता है । वस्तुमात्र सच्चिदानन्द स्वभाव है, क्योंकि वह प्रकाश विमर्श सामरस्यात्मक है । अतएव उसमें नाना विकारोंके सृष्टि, स्थिति,

लय होंगे ही। तथा अपने सम्पूर्ण विकार परिवार के साथ अपने कारण में वह लीन होगा ही। यह स्वभाव है। आप समस्त चराचर की अम्बा हैं, अतएव यह सम्पूर्ण तत्त्वसमूह अपने अपने तात्त्विक कुलों (विकार परिवार) के साथ आपमें ही उठ उठ कर प्रशान्त होता है। सब आपकी कल्पना के अनुरूप ही होता है। कारण आपकी इच्छा स्वतन्त्र है और आपके कल्पित जन्तुमात्र आप की इच्छा का अतिक्रम कभी नहीं कर सकते।]

पिघल के पानी और गाढ़ा हो कर जो वस्तु हिम कहलाने का आनन्द उठाती है, वही वास्तविक सत्ता है। अतएव यथार्थ तत्त्व एक ही है। वह स्वयं सिद्ध है। सभी नाम और रूप उस चिन्महा-सागर की तरङ्गें हैं। उसीमें प्रकाश विमर्श का परिपूर्ण सामरस्य है। उसको दो अथवा एक वही कहता है। यदि कोई मनुष्य एक हाथ से दूसरे हाथ को मारे तो वहां मारने वाला और मार खाने वाला वास्तविक दृष्टि से एक ही तो है, किन्तु हाथ के काल्पनिक स्वतन्त्र भाव को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि अमुक हाथ मारने वाला और अमुक मार खाने वाला। यह सब समदर्शी तत्त्व की महालीला है। वह परिपूर्ण स्वतन्त्र है। इसीलिये वह एक या बहु अपनी इच्छाऽनुकूल रहता है। हाथ पैरों को सिकोड़ कर या उनको पसार कर देवदत्त दो नहीं होता। अलग-अलग अवस्थाओं में वह बहुविध भले ही हो।

————

द्वितीय उन्मेष

आत्मनिवेदन

आप दर्पण देखते हैं पर क्या दर्पणको देखनेके लिये आप दर्पण देखते हैं ? नहीं, कदापि नहीं । अपना मुख देखनेकेलिये आपको दर्पण देखना पड़ता है । अपना मुख देखनेमें महान् आनन्द प्राप्त होता है । अपना मुख देखनेसे भी अधिक अपने आनन्दका दर्शन बहुत अधिक आनन्द देता है। सबसे अधिक आनन्द अपने आपके दर्शनमें ही होता है । वह निरतिशय है । आत्मा अपने आप अगाध और अपार आनन्द-महासागर है । इस महासागरकी कोई उपमा नहीं । दर्पण जितना अधिक निर्मल होगा उतना ही अधिक निर्मल रूप दिखाई देगा । दर्शन रूपका ही होता है । रूपी द्रष्टा है दृश्य नहीं । दर्पणमें मुख नहीं दीखता, मुखका प्रतिबिम्ब वा आभास मात्र दीखता है । उस आभास मात्र वा प्रतिबिम्बको देखकर 'हमने अपना

मुख देख लिया' ऐसा समझ लेते हैं और परम सन्तुष्ट हो बैठते हैं । बार-बार दर्पणको देखते हैं– पर दर्पणके लिए अथवा प्रतिबिम्बके लिये नहीं, अपने मुखके दर्शनके लिये ही देखते हैं । आत्म-मुख-दर्शनका आनन्द अपूर्व है । प्रतिबिम्बको बिना देखे यदि मुख दीख सकता तो हम कभी प्रतिबिम्ब न देखते, पर क्या करें हम परवश हैं; जब भी दीखता है, प्रतिबिम्ब ही दीखता है और उसीसे सन्तोष कर लेते हैं । प्रतिबिम्ब भी दर्पणके बिना नहीं दीखता, इसीलिये दपणको हम देखते हैं तथा उसकी सार संवारस रक्षा करते हैं, किसी भी मूल्य पर उसे अपने पास लाना चाहते हैं । दर्पण मुखके प्रतिबिम्बको दिखाने में असमर्थ हो तो हम अन्धा बुरा कहकर फैंक देते हैं । यदि वह किसी उपायसे प्रतिबिम्ब दिखानेमें समर्थ हो सकता हो, तो उसे भी करनेके लिये हम सन्नद्ध होते हैं और करना उचित भी समझते हैं । कुछ भी हो आत्म-दर्शन ही परमानन्द है ।

आत्मा परिपूर्ण शक्ति-स्वरूप है । इसीलिये यह स्वयं दर्पण है और अपने आपमें स्व और स्वीय अथवा द्रष्टा और दृश्य रूपोंमें देखता, दीखता और दिखाता है । परम कल्याणरूप यह आत्मा परशिव है । जिस कारण यह अपने आपको परशिव देखता है, बनाता है, जानता है, रखना चाहता है, रहना चाहता है अथवा निरन्तर रहता है, वही इसका अपना रूप शक्ति है । यही परशिवा अनन्तकोटि जगतोंकी अम्बिका है । यह परमशिवा परशिवदर्पण है । दर्पणमें प्रतिबिम्ब ही झलकता है । इसकी एक विशेष पहचान है—बिम्बका दक्षिण प्रतिबिम्बमें वाम और बिम्बका वाम प्रति-बिम्बका दक्षिण भासता है । दूसरी दृष्टिसे विचार किया जाय तो

ऐसा कह सकते हैं – द्रष्टाको द्रष्टाका ही आभास होता है और उस आभासको ही दृश्य नाम दिया गया है। द्रष्टाके अतिरिक्त दृश्य कोई सत्ता ही नहीं रखता। तब हम स्पष्ट कह सकते हैं—आत्मा आत्म-दर्पण में शिव रूप होकर शिव रूपको और शक्तिरूप होकर शक्ति-रूपको निहारता है। शिवाभास शक्ति है और शक्त्याभास शिव है। हैं दोनों ही काल्पनिक। सारा ही आत्माकी कल्पना शक्तिका चमत्कार है। यह आत्मा आत्म-कलासे अपने आपमें स्व और स्वीय, पर और परकीय, अनन्त भावोंको उल्लासित करता और उनको विलापित करता हुआ निरन्तर आत्मानन्द महासागरमें आत्मानन्द-महामृत पीता रहता है। इस आत्माके अतिरिक्तकी शङ्का ही नहीं होती, यह वस्तुस्थिति है, अतः इसी आत्मरूपको हमारा नित्य प्रणाम है। पाठकोंसे हमारा यही साञ्जलिबन्ध --

शिव! ब्रह्मन्नात्मन्सकलमपि विश्वं स्वकलया,
जनुःसत्ताऽपायान्हृदि महति नित्यं प्रणयते।
प्रसन्न! स्वच्छन्द! स्वरमणकलाकोविद! गुरो!
नमो मह्यं कस्मैचन हृदयनाथाय भवते॥*

निवेदन है।

---

*— व्याख्या —

मूल तत्त्व तो सर्वथा निर्मल और असीम संवित् है। असीम और सर्वव्यापक होने से वह बृहत् होता हुआ ब्रह्म है। फिर समस्त विश्व का विकासक (बृंहक) होता हुआ भी वही ब्रह्म है। वही सब की आत्मा है। उसकी स्वभावभूत परमेश्वरता उसकी शक्ति

है जो समस्त प्रपञ्च के सृष्टि-संहार आदि की कलना को करती हुई उसकी कला है। अनन्त प्रकार के वैचित्र्यों से युक्त होती हुई तथा अनोखे ढङ्गों से सदा चमत्कार उपजाती हुई भी उसकी यह परमेश्वरता उसकी अनुपम कला कहलाती है। इस प्रपञ्च के सृष्टि-संहार आदि की लीला का प्रदर्शन परमेश्वर शिव अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता की अभिव्यक्ति के ही माध्यम से स्वयमेव अपने ही भीतर बिना किसी भी अविद्या आदि उपाधि का आसरा लिए अपने स्वातन्त्र्य से अपनी इच्छा के अनुसार करते रहते हैं। अतः वे स्वतन्त्र है। इस लीला के अभिनय में वे जिस पारमेश्वरी शक्ति के साथ क्रीडा करते रहते हैं, वह उन की स्वात्मस्वरूप ही है। अतः वे स्वरमण की कला में निपुण हैं। उनकी ही अन्तः प्रेरणा से कोई सद्गुरु किसी शिष्य पर अनुग्रह करते हैं। अतः मूलतः अनुग्रहशील शिव ही सद्गुरु हैं।

अनुवाद —

हे सततनिर्मल, स्वतन्त्र, अपने ही साथ रमण करने की कला में चतुर, गुरुदेव, सब के स्वात्म स्वरूप, परब्रह्मरूपी भगवान् शिव, समस्त विश्व को तथा इसके सृष्टि, स्थिति, संहार आदि को अपने ही चिन्मय स्वरूप (हृदय) के भीतर अपनी ही कला से सदैव (प्रतिबिम्बवत्) करते रहने वाले हमारे हृदय के स्वामी किसी अनिर्वचनीय स्वात्मस्वरूप आप गुरुवर को हमारा प्रणाम हो।

तृतीय उन्मेष

भेद में भी अभेद

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभावो यदाऽऽयत्तः स्फुरेदयम् ।
तामात्मशक्ति वन्देऽहं विज्ञानां महतीं हृदि ।।

(श्रीविंशतिकाशास्त्रम्—१)*

---

*लोक व्यवहार में व्याप्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भाव जिस (आत्मशक्ति) के आश्रय तथा अधिकार से प्रकाशित हो सकते हैं उस विज्ञानस्वरूपिणी पारमेश्वरी अपरिमिता आत्मशक्ति को मैं हृदय से नमस्कार करता हूं ।

(विंशतिकाशास्त्र—१)

सिद्धं समिद्धममितं हृदयेऽस्मदीये,
वाक्कायशक्तिजननीवरिवस्ययाऽऽप्तम् ।
नोद्घाटनीयमपि सम्प्रति योगिनीना-
मादेशतो, विवृणुमोऽस्य महारहस्यम् ।।
तस्मात्सदैव समुपासितदेशिकेन्द्राः
श्रीमण्डले विधिवदर्जितसन्निवेशाः ।
शास्त्रं यथावदवगम्य समस्तमेतत्,
सच्छिष्यवृन्दहृदयेषु निवेशयन्तु ।।

(सिद्धमहारहस्य १—२)*

---

* अपरिमित महारहस्यभूत वस्तु हमारे हृदय में स्वयमेव स्वानुभव से ही सिद्ध है और अपने तेज से ही उज्ज्वलतया प्रकाशित होती रहती है । उसकी इस अभिव्यक्ति को हमने वाग्भवबीज, कामराजबीज और शक्तिबीज नाम के तीन रहस्यात्मक मन्त्रों की माता की उपासना के द्वारा प्राप्त किया है । यद्यपि इस रहस्य को जनसाधारण के सामने प्रकट करना उचित नहीं है फिर भी योगिनियों की आज्ञा से उसे अब प्रकट किया ही जा रहा है । इसलिए जिन महानुभावों ने सद्गुरुओं की सततसेवा की हो और जिन्होंने विधिपूर्वक श्रीमण्डल में प्रतिष्ठा प्राप्त की हो, उन्हें इस समस्त शास्त्र को यथार्थतया समझ कर उत्तम शिष्यों के समूहों के हृदय में इसे प्रतिष्ठित कर देना चाहिए । (सिद्धमहारहस्य—१,२)

आदि और अन्त कल्पित होते हैं, अथ च कल्पित के ही हो सकते हैं, अकल्पित के नहीं। अकल्पित क्या है ? कैसे है ? कहां है ? कितना है ? किस कारण है ? किस लिये है ? किससे है ? किसका है ? इन सभी प्रश्नों का अधिष्ठान तथा समाधान का अधिष्ठान एक ही है और वह भी स्वयं सिद्ध अपने आप। जो निरन्तर "अहम्महः" है। 'अस्ति', 'असि' तथा 'तत्' और 'त्वम्' का पर्यवसान 'अस्मि' और 'अहम्' में ही होता है, कारण कि आरम्भ स्थान जो यही है। आरम्भ तथा समाप्ति आत्मानन्द के उल्लास के लिये ही है। आत्मपद के वर्णन के लिये आत्मपद-ध्वनिके जितने भी प्रकार कल्पित किये गये वे सब वर्ण कहलाये। आत्माका क्षरण कभी नहीं होता अतः उसे अक्षर कहा गया। अक्षर के वर्णन के लिये नाना प्रकारके उच्चारणों का आविष्कार किया गया और उनको भी अक्षर नाम से व्यवहृत किया गया। इसको व्यवहार में स्थायीरूप देने के लिये लेख का रूप दिया गया तथा इसके समूहको वर्ण माला और अक्षर-माला मान लिया गया। यह अक्षर समाम्नाय वा वर्ण समाम्नाय ही आत्म व्यवहार का साधन निश्चित किया गया, यह सब आत्मशक्ति है। यदि शक्ति न होती तो आत्मा का वचन वा वाचन न हो सकता। अतः आत्मशक्ति ही वाक् है और उससे ओत-प्रोत व्यवहार वाङ्मय कहलाता है।

'अस्मि', 'असि' और अस्ति' अथवा 'हूं', हो' और 'है', ये सभी ज्ञान आधार हीन नहीं रह सकते, अतः इनका एक आधार स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। आधार को भी आधार की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक काल्पनिकता हो। अकल्पित आधार

निरपेक्ष और परिपूर्ण होता है । परिपूर्णता निरपेक्षता के विना और निरपेक्षता परिपूर्णता के विना उपपन्न नहीं होती । इस निरपेक्ष परिपूर्ण स्वयसिद्ध महाधार को महाविज्ञान कहा जाता है । यही महाविज्ञान महाप्रकाश और महाविमर्श है । यही महाविज्ञान आत्मस्वरूप को सर्वत्र 'अस्मि' रूपसे अपरोक्ष, 'असि' रूपसे प्रत्यक्ष और 'अस्ति' रूप से परोक्ष प्रकाशित करता है, तथा क्रमशः 'अहम्' रूप से अपरोक्ष, 'त्वम्' रूप से प्रत्यक्ष और 'तन्' रूप से परोक्ष विमृष्ट करता है । परोक्ष रूपों में भी प्रत्यक्षता तो रहती ही है । यदि परोक्ष रूपों का पारोक्ष्य प्रत्यक्षता में सर्वथा विलीन कर दिया जाये तो सभी का 'त्वमसि' रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि परोक्ष कार्य है और प्रत्यक्ष कारण । कार्यों के रूपों में कारण ही विकसित होता है, वैसे ही कार्यों का समरसीभावापन्नरूप ही कारण वा सकुचित (संक्षिप्त) रूप है । जडताका अधिकाधिक अनुसन्धान परोक्षताका और चेतनताका अधिकाधिक अनुसन्धान प्रत्यक्षताका साक्षात्कार करने में समर्थ है । हाँ, पारक्यका अनुसन्धान वर्तमान हो, पारोक्ष्य सर्वथा लुप्त कर दिया हो और चेतनत्वका पूर्ण भान हो रहा हो, तब सभी रूप और नाम 'त्वमसि' होते हैं । परोक्षता से विकसितरूपों में जिज्ञासितके लिये 'किम्' । अजिज्ञासित भी हो, अति परोक्ष हो उसके लिये यत्' । प्रसिद्ध परोक्ष के लिये 'तत्' । प्रत्यक्ष का आधिक्य हो, चैतन्य से पारोक्ष्य ढक सा दिया हो, ऐसे विप्रकृष्ट परोक्ष के लिये 'अदः' । प्रत्यक्षका और भी आधिक्य हो तथा पारोक्ष्य हो तथा पारोक्ष्य जाड्य से ढक दिया हो तो निश्चित

सन्निकृष्ट के लिये 'इदम्'। तथा अति सन्निकृष्ट के लिए 'एतत्' कहा जाता है। हां, इन सभी की सम्भावना 'अस्ति' आदि प्रथम पुरुष के वचनों से ही की जाती है, यह जाड्यका सदुपयोग और सत्कार भारतीय महर्षियों का आदर्श है। पारोक्ष्यका लेश भी जब नहीं रहता परन्तु पारक्य भी वर्तमान हो तब 'असि' आदि मध्यम पुरुष के वचनों से सभी रूपों की सम्भावना करने का आदेश महर्षि देते हैं।

प्रत्यक्ष भाव हों अथवा परोक्ष भाव, इनकी 'भूः' तो 'महांऽस्म्यहम' ही हैं। 'महः' को 'अस्मि' रूपसे प्रकाश का और 'अहम्' रूप से विमर्श का अपरोक्ष साक्षात्कार निरन्तर रहता ही है। प्रकाश को ही विमर्श होता है और विमर्श का ही प्रकाश होता है। इसी लिये 'महः' ही महाप्रकाश है और 'महः' ही महाविमर्श है। 'अ' से 'ह' तक वर्णमाला विन्दु की विसर्गाऽभिधान शक्ति आत्म-विमर्श से आत्मप्रकाश करती है। ये ही सौषुप्त, स्वाप्न और जाग्रत्क जगत् के रूप हैं, यह सब विकास कहलाता है। इसके विपरीत सङ्कोच में विसर्ग की वैन्दवी-शक्ति आत्म-प्रकाश से आत्म-विमर्श करती है। अपरोक्षतया आत्मरूप से सभी भाव अस्मत्प्रत्ययगोचर होने के कारण सभी रूपों और नामो का 'अस्मि' आदि उत्तम पुरुष के वचनों से महर्षि गण सत्कार करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से पाठक भली भांति जान जायेंगे कि वस्तुस्थिति क्या है। 'अस्म्यहम्' से विकास, निग्रह, विमर्श, शक्ति अथवा नानात्व वा जगत् का तथा 'अहमस्मि' से संकोच, अनुग्रह, प्रकाश,

शिव, वा एकत्व वा स्थिरत्व का रहस्य अनुभूत किया जा सकता है। इस प्रकार पूर्व प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हो गये, जैसे—

१ अकल्पित क्या है?

उत्तर—आत्मा।

२ कैसा है?

उत्तर—महोऽस्म्यहम्।

३ कितना है?

उत्तर—परिपूर्ण है।

४ कहां है?

उत्तर—अपने आप में है।

५ किस कारण है?

उत्तर—स्वयं सिद्ध है।

६ किस लिये है?

उत्तर—आनन्द के लिये है?

७ किस से है?

उत्तर—प्रकाश-विमर्श से है।

८ किस का है?

उत्तर—अपना ही है। अस्तु।

प्रश्न-प्रतिप्रश्न, उत्तर-प्रत्युत्तर अनन्त हो सकते हैं, किन्तु आत्माऽनुग्रह से तृप्ति प्रकट हो जाती है, फिर कोई शङ्का नहीं होती, तब समाधान की भी आवश्यकता नहीं रहती। इस का पूर्ण रहस्य जानने के लिये हमारे 'श्रीआत्मविलास', 'श्रीमहानुभव-शक्तिस्तव', 'श्रीविंशतिकाशास्त्र', 'श्रीराष्ट्रसञ्जीवन', 'श्रीसंक्रान्ति-

पञ्चदशी' आदि ग्रन्थों का यथावत् अध्ययन करना चाहिये। अन्त में इतना ही —

धन्या: स्वमेव सकलेषु चराचरेषु
व्याप्तं प्रकाममनुभूय सुधाकलाढ्यम्।
कल्याण-धाम्नि रसयन्ति हि सावधाना:
शैवावनौ शिवपदध्वनिमध्वनीना: ॥*

— —— -

निवेदन है।

---

*अनुवाद

शिव मार्ग के वे पथिक धन्य हैं जो जगत के सारे चराचर पदार्थों में व्याप्त होकर ठहरे हुए अपने आप का ही जी भर कर साक्षात्कार करके समस्त कल्याण का एकायतन बनी हुई शैवी भूमिका के प्रति सावधान बनते हुए अमृतमयी कला का आस्वादन करते रहते हैं।

विशेषार्थ: —

शैवी साधक अपने आप को परिपूर्ण परमेश्वर ही के रूप में पहचान लेने पर अपने आप का विमर्शन परिपूर्ण और अद्वैत "अहम्" के रूप में करने लग जाते हैं। वह "अहम्" परिपूर्ण परमेश्वरतात्मक होता हुआ अमृतमयी कला से परिपूर्ण होता है। सर्वथा अभिन्न और असीम होता हुआ यह स्वात्म विमर्श ही परा वाणी है। उसी को शिवपद में स्पन्दनशील होने के कारण शिवपद की ध्वनि अर्थात् शिवभाव का विमर्शन कहा गया है।

चतुर्थ उन्मेष

आत्मसाक्षात्कार किसको ?

वाङ् मय भी और ज्योतिर्मय भी दोनों ही आत्मसत्ता में स्फुरित होते हैं। इन दोनोंका 'है' अथवा 'नहीं है' दोनों ही प्रकार का प्रकाश बोध में आता ही है। आत्मा की सत्ता, चित्ता तथा आनन्दता का बोध आत्मा को ही रहता है। आत्मा स्वभावत: शक्तिघन है, इसी कारण उसको महासत्, महाचित् तथा महानन्द कहा जाता है। अतएव महासत्ता महाचित्ता तथा महानन्दता आत्मा की नैसर्गिक शक्ति के प्रकार हैं। आत्मातिरिक्त की उत्पत्ति, स्थिति अथवा लय कुछ भी नहीं होता। यह केवल काल्पनिक ही है।

आत्मा अपनी तिरोधान शक्ति से स्वयं तिरोहित-सा हो कर निगृहीत सा होता है और अनुग्रह शक्ति से प्रकट सा होकर अनुगृहीत सा होता है। निगृहीत दशा में जीव और अनुगृहीत

दशा में शिव कहलाता है। यह कहलाने वाला और कहने वाला पृथक् नहीं होता। पृथक् न होने पर भी प्रत्यक्ष भावों को अपने आप में अपने आनन्द के लिए कल्पना करके उन आनन्दों का उपयोग और उपभोग करता रहता है।

'श्रीस्वाध्याय' के पाठकों ने हमारे पिछले कई लेख पढ़े होंगे। उन पर यदि उन्होंने मनोयोग से मनन किया है तो उन्हें इस लेख को समझते चिर न लगेगा।

हां, तो देखिये—कहीं से भी शब्द स्फुरित हो, क्या उसका वास्तविक मूल आत्मा नहीं, यदि आत्मा मूल नहीं तो मूल क्या है ? जैसे कोई पुरुष अपनी वंशावलीका इतिहास सुनाते हुए किसी पुरुष को मूल पुरुष बताता है, पर क्या वस्तुतः वह मूल पुरुष होता है ? नहीं, कारण मूलके मूल पर दृष्टिपात होते ही मूल मूल नहीं रहता और वह भी तूल ही तूल दिखाई देने लगता है। वास्तविक मूल आत्मा को छोड़ दूसरा हो ही नहीं सकता, कारण आत्मा की सत्ता काल्पनिक नहीं वह तो स्वयं सिद्ध है। यह बोध आत्मा के अनुग्रह से ही होता है। सभी दशाओं में तुष्टि, पुष्टि, बोध, आनन्द सभी कुछ परोक्ष भी और प्रत्यक्ष भी आत्मा को ही होने पर भी आत्मातिरिक्तों को ही हुआ-सा काल्पनिक व्यवहार में प्रतीत माना जाता है।

'वह श्याम है' यह बोध रामको होता है। यह ऊपर ऊपर कहने के लिए यह बात ठीक है, 'किन्तु राम क्या है' इसका निर्णय हुए बिना 'उसको बोध होता है' यह कहना गतल ही होगा। जब

कि राम सभी प्रकार आत्मातिरिक्त कुछ सत्ता ही नहीं रखता तो बोध आत्मा को ही होता है. ऐसा अपने आप सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही 'वह श्याम है' यहां का 'श्याम' जिसका बोध होता है वह भी आत्मातिरिक्त कुछ भी सत्ता नहीं रखता, तब जिसका बोध होता है वह आत्मा ही है, फिर 'आत्मा को ही आत्मा का बोध होता है' ऐसा अनायास ज्ञात हो जायगा। ऐसे ही आत्मा का आत्मा को बोध होता है यह भी स्वयं सिद्ध हो जायेगा।

'तुम भगवान् हो,' 'तुम शिव हो,' 'तुम राम हो,' 'तुम कृष्ण हो,' 'हे शिव तुम सर्व समर्थ हो,' 'हे ! जगज्जननी मां ! तुम बड़ी दयालु हो' इन सभी प्रकार के प्रत्यक्ष बोधों में बोध्य और बोध आत्मा को छोड़ दूसरी कोई सत्ता नहीं रख सकता। अतएव हमें अवश्य ही मानना ही होगा कि सभी प्रकार के प्रत्यक्ष बोधों के स्थलों में भी बोध और बोध्यकी सत्ता एक ही है। जब परोक्ष और प्रत्यक्ष बोध भी आत्मातिरिक्त को नहीं होता तो अपरोक्ष बोध आत्मा को छोड़ किसी दूसरे को कैसे हो सकेगा ? देखिये— हाथ पैर फैलाकर लेटे हुए देवदत्त को किसी ने पूछा—"आप कौन हैं ?"

देवदत्त ने कहा—'मैं देवदत्त हूं।'

पूछने वाला—'आप अपने को जानते हैं ?'

देवदत्त—'जी ! हां मैं अपने आपको जानता हूं।'

पूछने वाला—'आप जानते हैं कि जानने वाला कौन हैं ?'

देवदत्त — 'मैं जानता हूं कि जानने वाला मैं हूं ।

पूछने वाला – आप किसको जानते हैं ?

देवदत्त — 'मुझको, अपने को, अपने आप के जानने वाले को अपने आपको, समझे ।'

पाठक समझ गये होंगे कि यहां बोद्धा और बोध्य दोनों ही देवदत्त अपने आप ही है ।

ऐसे ही वही देवदत्त हाथ पैर सिकोड़ने पर भी दूसरा नही होता । उस समय भी वही अपने आप का बोद्धा और बोध्य होता रहता है । यही अपरोक्ष साक्षात्कार है, स्वयं साक्षात्कार अपरोक्ष हो, प्रत्यक्ष हो, अथवा परोक्ष ही क्यों न हो, होता आत्मा को ही है, दूसरे को नहीं और आत्मा का ही होता हैं । इसीलिए यह स्वयं सिद्ध बात समझते विद्वानों को चिर न लगेगा कि आत्म-साक्षात्कार आत्मा को ही होता है । इस काल्पनिक अनन्त व्यवहार के बाहर भीतर सभी ओर आत्मातिरिक्त वस्तु हो ही नहीं सकती । हां, यह सम्पूर्ण आत्म-शक्ति का चमत्कार है । प्रकाश के भी प्रकार और विमर्श के भी सभी प्रकार आत्मा के अपने आप में अपने आपके लिए किये जाने वाले, समझे जाने वाले, चाहे जाने वाले चमत्कार हैं और इन से चमत्कृत रहने वाला आत्मा ही है । प्रकाश के सभी प्रकार ज्योतिर्मय और विमर्श के अभी प्रकार वाङ्मय कहे जाते हैं । वह वस्तुस्थिति है ।

विशेष जानकारी के लिए "श्रीआत्मविलास" श्री महानुभव-शक्तिस्तव, 'श्रीश्रीविंशतिकाशास्त्र' 'श्रीमन्दाक्रान्ता स्तोत्र' आदि

रहस्य शास्त्रों को पढ़ना चाहिये ।

शान्तैर्घोरैर्घोरतमैः स्वं रूपैर्नामभिश्च या ।
निगृह्णात्यनुगृह्णाति पिवन्ती स्वरसासवम् ॥
सृजन्त्यवन्त्यदतीयमात्मनात्मानमात्मनि ।
नित्यं समरसानन्दा महाऽनुभवमश्नुते । (विं.शा-४,५)

श्रीश्रीविंशतिकाशस्त्रके इन श्लोकों के रहस्यको* हृदयङ्गम कर लेने से निःसंशय निःसंशयता प्राप्त हो सकती है । पाठक श्री-श्रीविंशतिकाशास्त्रको भली-भांति पढ़ें ।

— — — —

*जो भगवती आत्मशक्ति स्वात्मचमत्काररूपी आसव के रस का पान करती हुई उसके आनन्द में विभोर रहती है, वही आत्मरूप अर्थात् अपने स्वरूप से अभिन्न जीवों पर शान्त, घोर और घोरतम रूपवाले और नामवाले अपने भिन्न भिन्न स्वरूपों के द्वारा निग्रह तथा अनुग्रह करती है ।

वह भगवती आत्मशक्ति अपने आपके ही भीतर अपनी ही शक्तिरूपता के द्वारा अपने आपकी ही सृष्टि तथा अपने आपका ही पालन और संहार करती हुई सदा अपनी समरसता के अनन्द में निमग्न रहती है और अपने स्वरूप के महान् अनुभव में विभोर रहती है ।

(वि. शा. ४-५)

पञ्चम उन्मेष

साक्षात्कार आत्मा का ही

पिछले लेख में हमने स्पष्ट लिखा था कि आत्मसाक्षात्कार आत्मा को ही होता है दूसरे को नहीं । कारण भी हमने इसका स्पष्ट यही बतलाया था कि—'आत्मातिरिक्त दूसरी सत्ता ही नहीं, तब 'आत्माका ही तो साक्षात्कार होगा' यह अनायास ही यद्यपि फलितार्थ निकलता है, और पिछले लेख में थोड़ा विस्तार के साथ विवेचन करेंगे, जिससे साधारण पाठक भी संतुष्ट हो सकें ।

स्फुरण अनन्त हैं, किन्तु उनका मूल आधार एक ही है । मूल आधार को 'महाभाव' पदपर कृतसाक्षात्कार महर्षि महानुभाव आत्ममहानुभव से स्तुति करते हुए अभिषिक्त करते हैं । यह 'महाभाव' आत्मा ही है, कारण इसमें असंख्य स्फुरणों से असंख्य

स्फुरितों का भाव है। यह महाभाव स्वयं महास्फुरणरूप होने के कारण अपने आपको असंख्य स्फुरण रूपों में और असंख्य स्फुरित रूपोंमें चाहता है, जानता है और करता भी है। ऐसी ही महानुभूति श्री धर्माचार्य के मुख से निकली थी। सुनिये आचार्य क्या कहते हैं —

एका सती भगवती परमार्थतोऽपि
संदृश्यसे बहुविधा ननु नर्त्तकीव।*

(पं. स्त ४—१८)

स्फुरण क्रिया है और स्फुरित भाव। दृष्टयन्तर से भाव क्रिया भी है और क्रिया भाव भी है। किन्तु इन दोनों की आमूल-चूल निर्मिति महाभाव में ही अथवा मह क्रिया में ही सदा विद्यमान

---

*अनुवाद—

हें पराशक्ति, आप वस्तुत: एक होती हुई भी नटी को तरह अनेक रूपों में देखी जा रही है।

विशेष अर्थ—

पारमेश्वरी परा शक्ति वस्तुत: एक ही है, परन्तु अपने विलास की लीला में अनेकों रूपों में प्रकट होती हुई जगत का कल्याण करती है, जैसे एक ही नर्तकी विविध नाटकों में अनेकों नायिकाओं के रूप को धारण करती है।

है। स्फुरणों का साक्षात्कार स्फुरितों को नहीं और स्फुरितों का साक्षात्कार स्फुरणों को नहीं। साक्षात्कार के लिये दृष्टि चाहिये और उससे भी पहले स्थिति चाहिये। काल्पनिककी तो स्थिति ही नहीं, फिर उनकी दृष्टिका होना तो सम्भव कोटि के निकट कहां? जिसके पास अपनी स्थिति है उसी के पास अपनी दृष्टि भी रह सकती है। इसी कारण कहना ही पड़ेगा कि काल्पनिक सभी स्फुरण और सभी स्फुरित काल्पनिक स्थिति से और काल्पनिक दृष्टि से अञ्चित (भूषित) किये जाते हैं। अनन्तर यह आत्माराम आत्मा अपनी अभिनवरमणीयता के उपयोग और उपभोग से निरन्तर निमग्न सा रहता है। पश्चात् ही इसी के सभी प्रकार की इष्ट, ज्ञात, तथा कृत मूर्तियों का वैसी ही मूर्तियों को साक्षात्कार होता है, ऐसा कहना और सुनना भी ठीक सा माना जाता है। एवं च यह बात स्पष्ट हो गयी कि साक्षात्कार किस का होता है। किसी का भी साक्षात् हो, होगा वह आत्मा का ही। देखिये—यदि देवदत्त अपने दायें हाथ से बायें हाथ को अथवा बायें हाथ से दायें हाथको मारे अथवा प्यार दे, तो जहां मारने वाला और प्यार देने वाला देवदत्त है, वहां मार खानेवाला और प्यार लेने वाला भी तो देवदत्त ही है, देवदत्तातिरिक्त तो कोई नहीं। किन्तु वहां हाथने हाथ को मारा और हाथ ने हाथ को प्यार दिया ऐसा भी तो है और हाथ से हाथ ने मार खायी और हाथ ने हाथ से प्यार लिया ऐसा भी तो देखने में आता ही है, फिर भी हाथ देवदत्त के परतन्त्र हैं और देवदत्त स्वतन्त्र। कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और ऐष्टृत्व आदि

समस्त धर्मों का कलन जिस कला से होता है वह तो समरसी-भूत-प्रकाश-विमर्शात्मा सच्चिदानन्दकन्द आत्मा में ही है । अतएव समझाते समय सभी प्रकार समझाने पड़ेंगे । समझने समझाने की बातें काल्पनिक सत्ता स्वीकृत करके ही चलाई जाती हैं । यह सभी कुछ आत्म-शक्ति का चमत्करण है । क्रिया-साम्राज्य में करण और कृतकी, ज्ञान-साम्राज्य में ज्ञान और ज्ञात की और वैसे ही इच्छा-साम्राज्य में एषण और इष्ट की जोड़ियां करती, जानती और चाहती देखी गयी हैं । अहो ! यह आत्म-कला महानुभव से प्रसन्न होती है । आत्म-कलाका यह प्रसाद आत्म-कलितों को वरदान में महानुभव देकर उनको महर्षि-महानुभाव पदसे समृद्ध करता है । फिर सभी रहस्य अपने आप सुलझने लगते हैं ।

कठपुतलियां एक दूसरे से लड़ती हैं ऐसा दीखता है, पर वस्तुतः नहीं । यह कल्पना मात्र है । कल्पितको सत्य मान लेने पर भी अकल्पितका तन्त्र छिन नहीं जाता । आत्मा परिपूर्ण समर्थ है । इसीलिए निरपेक्ष होने पर भी सापेक्षसा दिखाई देता है, और फिर विलास इसका सहज स्वभाव जो ठहरा, इसी कारण हम ऐसा कह सकते हैं कि सभी सामान्य भावोंको और सभी विशेष-भावों को आत्मा देखता है । वस्तुतः दृश्य सत्ता आत्मातिरिक्त कुछ भी नहीं है । मानी हुई अनेकता ही कार्यकारण-भावका मूल है, वस्तुतः आत्मसत्ता मात्र ही है । सभी सापेक्ष भाव एक

दूसरे के अन्तर में छिपे रहते ही हैं और इनकी परम्परा कितनी लम्बी हो सकती है, इसकी कोई सीमा नहीं। कारण कल्पनाको जगदम्बा भगवती श्रीकलाके प्रसादका कितना दाय प्राप्त हुआ है और उस प्राप्त दायका संगोपन तथा संवर्द्धन कल्पनाने कितना कितना किया है, इसका ज्ञान भी कल्पना कुमारी के अबोध शिशुओं को कैसे हो सकता है ? उदाहरणार्थ काला गोरा ही लीजिये। किसीने कहा—राम काला है। किन्तु 'काला' कहने से पहले कहने वाले ने 'काला' क्या होता है इस ज्ञान की कल्पना कर ली थी और काला ज्ञान से पहले ही 'काला' ज्ञान के अन्तर में बैठे गोरा ज्ञान से वह परिचित हो चुका था। पर गोरा ज्ञान से पहले उसके अन्तर में विद्यमान काला ज्ञान भी तो उसे था ही। और उस काला ज्ञान से पहले उसके अन्तर में विद्यमान गोरा ज्ञान भी था ही। अब काले के अन्तर में गोरा और गोरे के अन्तर में काला यही परम्परा विचार के लिये ली जाये तो इसका अन्त ही कहीं नहीं होता। ऐसे ही इसका प्रारम्भ काले से हुआ वा गोरे से, इसका कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। श्रीकल्पना कुमारी की कलाका ही जब ज्ञान नहीं तब जगदम्बा श्रीकला महा-षोडशी के सौन्दर्य-समुद्रका उस में निरन्तर जन्मने, रहने, लीन होने पर भी उन तरंग बुद्बुदादि बिन्दुओं को कौन सा ज्ञान हो सकता है ? ज्ञान होने के लिये उनको पृथक् सत्ता तो चाहिए। श्रीमाता के प्रसाद के बल पर तो उन सुन्दर बुलबुलों से भी यह ध्वनि निकल सकती है —

शिवाऽऽप्तिकारणं तापवारणं लालितं हृदि ।
द्वयं गुरोश्चरणयोरद्वयं स्फुरतान्मम ॥
स्वभासाय स्वतृप्ताय स्वतन्त्राय स्वमानिने ।
स्वकारिणे स्वमूलाय कस्मैचिन्महसे नमः ॥
प्रकाशमात्ररूपाय विमर्शामर्शरूपिणे ।
नित्योदिताय शान्ताय नमो मह्यं शिवात्मने ॥
विशालोल्लोललोलाय निजानन्दोर्मिमालिने ।
विलक्षणस्वरूपाय विमर्शाय नमो नमः ॥*

(प. शि. स्तो—१, ५, ६,७)

---

*हमारे गुरुदेव के (दो) चरण हमारे लिए शिवभाव की प्राप्ति के कारण बने हैं उनसे हमें भव सन्तापों का निवारण हुआ है, वे हमारे हृदय में लालन प्राप्त कर चुके हैं वे हमारे हृदय में अद्वयभाव से चमकते रहें ।

किसी उस अनिर्वचनीय तेज (चित्प्रकाश) को हमारा प्रणाम हो जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान है, अपने आप में ही सुतृप्त है, स्वतन्त्र है, अपने आप को ही मानने वाला है, अपने

ध्वनि कहीं से भी निकले वह अपने अर्थों के साथ आत्म-कला में ही निरन्तर समृद्ध हैं। लेखक के पूज्य प्रपितामह ने स्वनिर्मित शिवस्तुति में एक बड़ी सुन्दर सूक्ति अपने परिचय में दी हैं, उसको भी पाठकों के समक्ष हम उद्धृत कर रहे हैं, उसको पढ़कर पाठक बहुत प्रसन्न होंगे, सूक्ति यह है—

श्रीमद्गभस्तीश्वरमङ्गलाख्य-
गौरीप्रसादः स इहाऽभिमानः।
अहं हि कर्त्ताऽपि ममैकदेशः
केशश्च चेद्वक्ष्यति नेति चित्रम् ।।*

आप को ही करने वाला है और स्वयं अपना मूल है। जो एकमात्र प्रकाशात्मक है, विमर्श के द्वारा स्वात्मविमर्शन करना जिसका स्वरूप है, जो सततोदित प्रशांत चित्तत्व है उस शिवरूपी मुझ को नमस्कार हो।

उस अतिविशाल और उत्तरङ्गित होते रहने वाले स्पन्दनशील-विमर्श को हमारा प्रणाम हो जो अपने आनन्द की लहरों से सर्वतः परिवेष्टित है और उस से जिसका स्वरूप अत्यन्त विलक्षणताओं को लेकर के अभिव्यक्त होता रहता है।

(प. शि. स्तो—१, ५, ६, ७)

*वाराणसी में गङ्गा जी के तट पर पञ्चगङ्गाघाट और सेन्धियाघाट के मध्य में एक स्थान है जहां भगवान् गभस्तीश्वर

महादेव का मन्दिर है और साथ ही उसमें मङ्गला गौरी की भी मूर्त्ति है। प्रस्तुत स्तोत्र के निर्माता श्री रामकृष्ण शास्त्रीके माता पिता उनकी उपासना करते रहे होंगे। उसके फलेस्वरूप उन्हे रामकृष्ण जैसा पुत्र मिला होगा। तदनुसार ही उन्होंने इस श्लोक के द्वारा यह कहा—

मैं अपने इस रामकृष्ण नामक शरीररूपी "अहं" को श्री गभस्तीश्वर महादेव तथा श्रीमङ्गला गौरी देवी का प्रसाद मानता हूं। मुझे ऐसा अभिमान हो रहा है कि मैं इस स्तोत्र का निर्माता हूं। फिर यदि मेरे शरीर का अंशरूपी एक केश भी ऐसा कहे तो उस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चहिए।

तात्पर्य यह है कि मूलतः शिव-शक्ति में ही सारा कर्तृत्व है। पारमेश्वरी सृष्टि की लीला में जैसे उस कर्तृत्व का अभिमान परम्परा से मुझ में आया, वैसे ही मेरे एक केश में भी आ सकता है। उस बात में कोई आश्चर्य नहीं।

नोट—इस श्लोक की व्याख्या से अनुवादक को पूरा सन्तोष नहीं हो रहा है। विद्वान् महानुभाव इस पर स्वयं भी विचार करें।

आत्म-कलासे कल्पना में, कल्पना से इच्छा में, इच्छासे ज्ञानमें, और ज्ञानसे क्रियामें, सच्चिदानन्दकन्द आत्मा अवतीर्ण हो तो परस्पर दृश्य भावका विलास बनता है । नीचे लिखे हमारे 'श्रीत्रिंशतिका-शास्त्रम्' के दो श्लोकों को हृदयङ्गम कर लेनेसे पाठकों को बड़ा लाभ होगा। श्लोक ये हैं—

वाच्यवाचकसम्बन्धाल्लक्ष्यलक्षकयोगतः ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाच्च महार्थः प्रस्फुरेच्छिवः ।।
वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभावविमर्शपरवान् भवन् ।
सच्चिदानन्दस्वरूपः शिव एव प्रकाशते ।।*

(त्रिं. शा. १६, १७)

इन सभी बातों से स्पस्ट हो गया—'सर्वत्र आत्मा का ही साक्षात्कार होता रहता है' यह वस्तुस्थिति है ।

————

*विश्व-काव्य में अभिधा के द्वारा वाच्य-वाचक सम्बन्ध से, लक्षणा के द्वार लक्ष्य-लक्षक योग से तथा व्यञ्जना के द्वारा व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव से महार्थ रूप में परमेश्वर प्रकाशित हो सकता है, अर्थात् विश्व-काव्य में परमेश्वर ही वाङ्मय रूप से प्रकाशित हो सकता है । विमर्श रूप परमेश्वर के विन्दु भाव

का विस्तार ही वर्णयम वाङ्मय है, उस वाङ्मय का अर्थ तत्त्व भी शिव ही है। वह त्रिविध शक्तियों के द्वारा प्रकाशित हो सकता है।

वाच्य-भाव, लक्ष्यभाव और व्यंग्य-भाव के विमर्श द्वारा विमृश्यमान होने से, उस प्रकार के विमर्श के अधीन होता हुआ भी वह सच्चिदानन्द रूप शिव ही सदा प्रकाशित होता है। अर्थात् इन भावों के द्वारा विमृश्यमान होने से उसकी स्वतन्त्रता और आनन्दमयता खण्डित नहीं होती। वह सदा अपने स्वतन्त्र और आनन्दयम रूप में स्थित रहता है और उसी अच्युत रूप में सदा प्रकाशित होता है।

(वि. शा. १६, १७)

षष्ठ उन्मेष

कर्तव्य

करो जानो अथवा चाहो आपकी सत्ता स्वयं सिद्ध ही रहेगी। आप हैं, इसी कारण आप चाहते हैं, आप हैं, इसी कारण आप जानते है और आप हैं, इसी कारण तो आप करते भी हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सभी प्रकारके स्फुरणोंका आधार 'सत्ता' है। सत्ताका आधार तो स्वयं सत्ता ही है। जिस सत्ताको दूसरे आधारकी अपेक्षा रहती है वह सत्ता स्वयं सत्ता नहीं, वह काल्पनिक है। स्वयं-भू सत्ता ही वास्तविक सत्ता है। इसी को आत्मा कहा जाता है।

आत्मा करता है क्योंकि वह कर सकता है, आत्मा जानता है क्योंकि वह जान सकता है, आत्मा चाहता है क्योंकि वह चाह सकता है। जो चाह सकता है वही चाहता है, जो जान सकता है वही जानता है, और जो कर सकता है वही करता भी है। जो

करता है वही कर सकता है, जो जानता है वही जान सकता है और जो चाहता है वही चाह भी सकता है।

पाठक समझ गये होंगे कि आत्मा ही पूर्ण रूपसे सकता है। सकनेके कारण ही आत्मा ही अपनी स्वयं पूर्ण शक्ति है। यह आत्मा स्वयं ज्योति है और स्वयं वाक् है। आत्मा सबकी 'भू' है, कारण, इस सबके ही सब प्रकार इसीमें रहते हैं। सभी सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रहाऽनुग्रहका यह भवन है। इसीलिये आत्मा 'भू' इस वाक्से समलंकृत हुआ। इसीलिये महर्षि पाणिनिने सम्पूर्ण धातुओंका मुखिया 'भू' को ही माना। सभी धारण पोषण इसीमें प्राप्त होते हैं न! जब यह स्वयं सिद्ध है यह सब कुछ हो सकता है, सब कुछ कर सकता है, सब कुछ जान सकता है, सब कुछ चाह सकता है। जिसके लिये वस्तुत: 'अस्ति' ऐसा कहा जाता है उसी केलिये 'वाति' ऐसा कहा जाना चाहिये। 'वाति' यह शक्ति का द्योतक है। सभी गतियां और सभी गन्धन 'वा' बताता है। 'भू' और 'वा' मिलकर सम्पूर्ण धातुओंका प्रामुख्य करते हैं। महर्षि पाणिनिका—"भूवादयो धातव:" यह सूत्र परिपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तका सूचक है। अस्तु। अब पाठक जान गये होंगे कि आत्मा ही शक्ति है और आत्मा ही शक्तिमान्।

'श्रीस्वाध्याय' के पिछले लेखोंमें हम भली भांति समझा चुके हैं कि साक्षात्कार आत्माको ही होता है और आत्मा का ही होता है, इस वस्तुस्थितिको समझने में यह लेख भी सहायक होगा।

आत्मा सर्वशक्ति-स्वरूप होनेके कारण एष्टा एषणीय, ज्ञाता

ज्ञेय, कर्ता करणीय वही है। इतना ही नहीं, माता मेय, भोक्ता भोग्य, होता हवनीय, पालयिता पालनीय, जनयिता जननीय, सब आत्मा ही है। सभी भाव काल्पनिक हैं। काल्पनिक नष्ट हुआ तो और प्रकट हुआ तो बिगड़ता बनता कुछ नहीं। बनना और बिगड़ना सभी काल्पनिक जो ठहरा। आत्मा महादेव है। यह अनन्त दिव्य क्रीडा इसका स्वभाव है। इसने अनन्त साम्राज्य कल्पित किये हैं और उनके संचालक तथा संचाल्य अण्ड भी। सृजन, पालन, विलयनके प्रकारोंका प्रणयन कर स्वयं ही अनन्त रूपों से कर्ता भोक्ता हो होकर स्वानन्दरस लूटता हुआ यह आत्मदेव केवल अपने आप अपने आपमें विराज रहा है। पाप पुण्य की वार्ता और उनके कर्ता भी और उनके नरक स्वर्ग आदि भोग और उनमें उलझने सुलझने की चिन्ताएं सभी आत्म-विलास मात्र है। आत्माकी क्रिया शक्तिके, ज्ञान शक्तिके, और इच्छा शक्तिके बड़े बड़े काल्पनिक साम्राज्य हैं। उनका जो कुछ बनना बिगड़ना है, वस्तुत: अपने आपमें ही है। आत्म-स्वरूपके निग्रह से नीचे नीचे और उसके अनुग्रहसे ऊंचे ऊंचे पदकी प्राप्ति भी एक आत्म-चमत्कार ही है। यह वस्तु-स्थिति है। इससे यह ज्ञात हो जायेगा कि 'कर्तव्य' क्या है। कर्तव्य कभी भी वस्तुसत् नहीं। व्यवहारमें व्यावहारिक सत्ताको सत्ता देकर फिर हम बातचीत करते हैं। और उसीके आधार पर कर्तव्या-कर्तव्यकी परिभाषायें और उनके सिद्धान्तके पोथे बना डालते हैं। शासक, शास्य, शास्त्र, सभी फिर अपनी अपनी बुद्धिके अनुरूप देखने दिखानेका प्रयत्न चलता है। किन्तु अनन्त-शक्ति इस आत्मामें बहिर्मुखताकी भी कोई सीमा है क्या। यदि कहींसे—'हमें क्या

करना चाहिये' ऐसा प्रश्न सुनाई दे, तो सुनने वाला पहिले अपनी परिस्थिति देखे और फिर प्रष्टाकी परिस्थिति देखे, पश्चात् अपनी सदसद्विवेकवती बुद्धिके आश्रयसे उसका समाधान करे । हां, किसी भी अणुमें सदसद्विवेकवती बुद्धिका प्रादुर्भाव बिना आत्म-महादेवके अनुग्रहके नहीं होता । आत्माऽनुग्रह भी अन्तर्मुखताके तारतम्यसे न्यून और अधिक माना जाता है । आत्माऽनुग्रहकी परात्परा काष्ठासे ही अन्तर्मुखताकी पराकाष्ठा समझी जाती है । अन्तर्मुखताकी पराकाष्ठाके लिये पूर्ण निरपेक्षताका आश्रय लेना पड़ता है । निरपेक्षताका विवेचन श्रीसद्गुरु भगवदनुगृहीत महापुरुष ही ठीक कर सकते हैं ।

———

सप्तम उन्मेष

सुखी कौन ?

सुखी शब्दके दो अर्थ होते हैं, सुख जिसका है वह और सुख जिसमें है वह। सुख किसका नहीं है ? और किसमें नही है ? इसका निर्णय यदि हो जाए तो ज्ञात हो जायगा कि सुख किसका है और किसमें है। संशय भी और निर्णय भी दोनों ही काल्पनिक होते हैं। एकको छोड़ कर सभी काल्पनिक हैं। और जब सभी काल्पनिक हैं तो यह भी निर्णीत ही है कि सुख भी काल्पनिक ही है। और जब सुख काल्पनिक ही है तो उसका सम्बन्ध चाहे जिसके साथ जोड़ा जा सकता है और इच्छाऽनुसार तोड़ा भी जा सकता है। तोड़ना और जोड़ना इन दोनों का कर्तृत्व चेतन में है, जडमें नहीं। जड अशक्त है और चेतन शक्त। जीव काल्पनिक चेतना है और परमात्मा स्वाभाविक। बोध चेतनको होता है जड को नहीं। सुख किसका है और किसमें है ये दोनों बोध जीवको होते हैं, अतः

कहना पड़ेगा कि जीव ही सुखी हो सकता है। जीव सर्वदा आत्म-समृद्धिका अभिलाषी है। यह उसका स्वभाव है, इसीलिए किसी पदार्थकी प्राप्तिको अनुकूल मानता है और किसीके त्यागको, और दोनोंसे सुखी होता है। त्याग हो अथवा ग्रहण, दोनोंमें अपनी इच्छाके अनुसार अनुकूलताकी भावना कल्पित कर 'सुखी हूं' ऐसा अनुभव करता है। 'सुखी हैं' 'सुखी हो' ये बोध थोड़े अपेक्षाकृत दूर होने पर भी होते चेतन को ही हैं। इसी प्रकार इच्छानुसार प्रतिकूलताकी भावना कल्पित कर उसके त्यागको अनुकूल मान सुखित्वका अनुभव किया जाता है। ऐसे ही आत्मरस-समृद्धिके लिए ही प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके वियोग से दुःखताकी कल्पना करके दुःखित्वका अनुभव किया जाता है। यह सारा ही काल्पनिक है। इसीलिए यह क्रीड़ा है। देव चेतन होता है। काल्पनिक चेतन काल्पनिक देव है। अनंत देवोंकी कल्पना करके अनन्त प्रकारसे सुखोंकी समृद्धि करता हुआ यह महान् अहम्महादेव अपने आत्ममहारससे सुखी है और वस्तुतः सुखी है। इसीका सुख है और इसीमें सुख है। आत्माऽतिरिक्त जब वस्तु ही नहीं तो आत्माको छोड़ सुखी भी कौन अन्य हो सकता है? हां, जीव-भावमें यही सुखी और दुःखी अपनेको मानता है। देशकाल और वस्तु सभी आत्मानन्दके लिए कल्पित किया गया है, इसीलिए सभी जीवोंमें सुखित्व निरन्तर अनुभूत नहीं होता। मैं सुखी हूं यह जाना जाता है, इसीलिए यह ज्ञानसे छोटा है। सम्पूर्ण ज्ञान जिस ज्ञानमें आते हैं वह सबसे बड़ा ज्ञान है। उसे उसके अतिरिक्त कोई नहीं जानता! वही महान् आत्मा महादेव है। अब पाठक

वस्तुस्थिति जान गए होंगे। इस बातको हमारे 'श्रीआत्मविलास' में हमने यों लिखा है—

सुखं दुःखं च तत्तस्य यथा येन प्रकल्पितम्।
परमार्थतया स्वात्माऽतिरिक्तं वस्तु नास्ति हि॥

सुख और दुःख काल्पनिक हैं अतएव जिसने जैसा कल्पित कर लिया उसका वह सुख दुःख वैसा बन जाता है। परमार्थ रूपसे देखने पर ज्ञात होगा कि अपने आप आत्मस्वरूप को छोड़ कर ओर दूसरा कोई पदार्थ ही वस्तुतः नहीं है।

शिवमस्तु

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	प्रयुक्ति	प्रत्युक्ति
३	२	सग्रह	संग्रह
४	१४	मैं	में
१२	१	हमझना	समझना
१३	६	रूपत्या	रूपतया
१३	१३	स्वय	स्वयं
१४	२	ससार	संसार
१४	१६	आभव्यक्त	अभिव्यक्त
१५	६	मैं	में
१६	१८	कृरता	करता
१८	४	इन्हें तन्मात्र तत्त्व कहते है	यह पुनरुक्ति है
१८	६	वैं	वे
१९	५	निश्वय	निश्चय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	९	होता	होता है
२२	१७	रहता	रहती
२४	६	ऐश्वय	ऐश्वर्य
२७	१५	नामो	नामों
२७	१६	भषणों	भूषणों
३३	१२	सुतृत्त	सुतृप्त
३४	१०	स्वय	स्वयं
३४	१७	का	को
३४	१८	सिद्धो	सिद्धों
३४	२३	ससार	संहार
३५	१३	सहार	संहार
३६	११	अह	अहं
३९	१३	भावभता	भावभूता
४०	२	परन्त	परन्तु
४१	१७	सद-	सदा-
४१	१९	अश	अंश
४२	१	आठवी	आठवीं
४७	६	अह	अहं
४९	१३	सवित्त-	संवित्त-
४९	१७	सकुचित	संकुचित

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	४	सक्रमण	संक्रमण
५३	१५	क्षेत्र	क्षेत्र
५३	१८	नेकास्मिन्	नेकस्मिन
५५	१५	कञ्चुको	कञ्चुकों
५५	१९	भिन्नयव	भिन्नयैव
५५	१९	रव	स्व
५८	२०	समान्या	सामान्या
६०	४	पपनी	अपनी
६०	२०	भो	भी
६२	५	सस्कृत	संस्कृत
६४	४	निर्भति	बिर्भति
६४	८	रूपिर्ण	रूपिणी
६८	११	रसनेद्रिय	रसनेन्द्रिय
६९	८	प्राण	घ्राण
७३	२	कारक	करण
७५	१४	वायु	पायु
७५	१८	वायु	पायु
७६	१६	में	मैं
७७	११	सवित्	संवित्
७७	१२	मैं	में

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	२०	सज्जीवन	सञ्जीवन
७८	२१	विक्यात	विख्यातं
७९	८	जान पर	जाने पर
८०	१७	मैं	में
८२	१	मकाररूपाया	मकाररूपाम्
८४	१९	करके	करने के
८५	१८	वक्रमे	वैक्रमे
८६	८	हृदयम्बुज	हृदयाम्बुज
८६	१३	हुआ।	हुआ
८८	४	-णात्मन	णात्मना
८८	१५	विलसन्त शिव	विलसन्तं शिवं
९१	१	उन्येष	उन्मेष
९८	१	आर	और
९८	८	संवारस	संवार से
९९	२१	विश्द	विश्व
१०२	३	योगिनो	योगिनी
१०२	१९	मणुल	मण्डल
१०३	२	नही	नहीं
१०३	५	आप।	आप,
१०४	४	स्वयसिद्ध	स्वयंसिद्ध
१०५	९	-म्यहम	म्यहम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११०	६	का	का ही
११२	७	नि:संशय	नि:संशय
११२	११	चमत्का	चमत्कार
११४	११	विद्यामान	विद्यमान
११५	४	उनकी	उसकी
१२०	३	फलेस्व.	फलस्व.
१२२	१	वर्णयम	वर्णमय

श्रीमदमृतग्रन्थमाला के प्रकाशन–

सख्या	ग्रन्थ	टीका आदि	मूल्य
१)	महानुभवशक्तिस्तोत्रम्	(संस्कृत-हिन्दी व्याख्या)	१—००
२)	श्री परशुरामस्तोत्रम्	(हिन्दी अनुवाद)	अमूल्य
३)	श्रीविंशतिकाशास्त्रम्	(संस्कृत-हिन्दी व्याख्याएं)	४—७५
४)	सप्तपदीहृदयम्	(संस्कृत-हिन्दी, अंग्रेजी अनुवाद)	१—५०
५)	सञ्जीवनीदर्शनम्	(संस्कृत-हिन्दी, अंग्रेजी अनुवाद)	१—५०
६)	सङ्क्रान्तिपञ्चदशी	(हिन्दी गद्य-पद्य अनुवाद)	१—००
७)	श्रीसिद्धमहामन्त्रमयी शिवप्रार्थना	(हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद)	अमूल्य
८)	मन्दाक्रान्तास्तोत्रम्	(हिन्दी व्याख्या)	५—००
९)	श्रीआत्मविलास-सुन्दरी	(हिन्दी व्याख्या शब्दकोष)	२०—००
१०)	श्रीसिद्धमहारहस्यम् तथा देशिक-दर्शनम्	(हिन्दी टीका)	१०—००
११)	श्रीमद्अमृतस्तोत्र-संग्रहः	(हिन्दी टीका)	३—००
१२)	श्री परमशिवस्तोत्रम् तथा वस्तुस्थिति-प्रकाशः	(विस्तृत हिन्दी व्याख्या)	१२—५०

आनन्दवनप्रसून-माला के प्रकाशन

१)	श्रीसिद्धमहारहस्यम्	(मूलमात्रम्)	१ ५०
२)	श्रीमदमृतसूक्तिपञ्चाशिका	(संस्कृत व्याख्या)	३—००
३)	श्रीमन्दाक्रान्तास्तोत्रम्	(हिन्दी अनुवाद)	३—००

अन्य प्रकाशन

२)	श्रीगुरुवरस्तवः	(हिन्दी अनुवाद)	४—००

सभी पुस्तकें मिलने का पता –

(१) श्री दुर्गादत्त शर्मा, ए—७२, अमृत पथ,

श्रीमदमृतवाग्भव शोध संस्थान, जनता कालोनी, जयपुर (राजस्थान)

(२) श्री रत्न लाल जैन, मकान नं० ए—१

दिल्ली हाईकोर्ट, शेरशाह मार्ग, नई दिल्ली – ३